सतां सङ्गो हि भेषजं, सर्वसङ्गापहो हि माम्।

(भागवत 11.12.2)

सत्सङ्ग संसार की सम्पूर्ण आसक्तियों को मिटाने वाला परम औषध है, भेषज है। इसलिए 'सत्सङ्ग' शब्द का अर्थ भगवत्-सङ्ग भी होता है, भगवदासक्ति भी होता है और जिससे भगवदासक्ति मिलती हो, उन सन्तों की आसक्ति, उन सत्-कर्मों की आसक्ति, उन सत्-शास्त्रों की आसक्ति, ये सभी अर्थ 'सत्सङ्ग' के अन्तर्गत आते हैं।

आज का सत्सङ्ग

2016

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

आज का सत्सङ्ग

2016

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

संकलन
आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
वृन्दावन

29वें आराधन महोत्सव के पावन पर्व पर

त्वदीय वस्तु गोविन्द !
तुभ्यमेव समर्पयेत् ।

परम पूज्य महाराजश्री के परम कृपा–पात्र
सेठी एण्ड सन्स, 44 यू.बी., जवाहर नगर
कमला नगर, दिल्ली के
सौजन्य से

आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेंटर
आनन्द वृन्दावन, वृन्दावन
द्वारा
वितरणार्थ प्रकाशित

मुद्रण–संयोजन
श्रीहरिनाम प्रेस, लोई बाजार, वृन्दावन–281121
दूरध्वनि : 7500987654

शुभाशंसा

प्रति सोमवार 'आनन्द प्रबोध' शीर्षक के अन्तर्गत पूज्य महाराजश्री का अद्‌भुत सत्सङ्ग e-mail में पिछले करीब २ वर्षों से आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेन्टर द्वारा भक्तों को नियमित रूप से भेजा जा रहा है।

पूज्य महाराजश्री के पिछले आराधन उत्सव पर 'अखण्ड चिन्तन' प्रसाद- पुस्तिका में, चुने हुए 'आनन्द प्रबोध' के प्रसंगों के संकलन, का वितरण किया गया।

पूज्य महाराजश्री के कृपापात्र शिष्य परिवार 'सेठी एण्ड सन्स' (दिल्ली) के सौजन्य से 'आज का सत्सङ्ग' प्रसाद-पुस्तिका में ३१ चुने हुए प्रसंगों का संकलन इस वर्ष के "आराध्य के आराधन" पर आनन्द प्रस्तुति ऑडियो विजुअल सेन्टर द्वारा वितरित किया जा रहा है।

परमपूज्य महाराजश्री का यह अद्‌भुत सत्सङ्ग-संकलन जिसमें धर्म, व्यवहार, भक्ति और वेदान्त के प्रसंग चुन-चुन के सुश्री साध्वी कञ्चन ने 'आज के सत्सङ्ग' में एकत्रित किये हैं, धन्यवादार्ह हैं।

श्री सेठी परिवार के प्रति मेरा शुभाशीर्वाद है जिनके सौजन्य से यह 'प्रसाद-पुस्तिका' आप सब को प्राप्त हो रही है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस लघु पुस्तिका में सँजोये हुए पूज्य महाराजश्री के अमृत वचनों का आप सब पाठक वृन्द पूरा-पूरा लाभ उठाकर अपने जीवन को धन्य बना सकेंगे।

विजया दशमी सन् २०१६

विनयावनत

सच्चिदानन्द

विषय सूची

●●●

मङ्गलाचरण

सद्भिः कृष्णानुरक्तैरतिरसजननीं प्राप्य गोपालदीक्षां
वीक्षाञ्चक्रे तदीयां निजनयनमनोमोहनीमात्ममूर्तिम्।
शिष्टैरिष्टैर्विशिष्टैरविषयविषयां शांकरीं ब्रह्मविद्यां
लब्धात्मन्यात्मतुष्टोऽनुभवति परमं तत्त्वमात्मस्वरूपम्॥

कृष्णानुरागी सन्तों से भगवद्भक्तिरसजननी गोपालमन्त्र-दीक्षा प्राप्त करके उनकी निजनयनमनोमोहनी आत्ममूर्ति का दर्शन प्राप्त किया। विशिष्ट शिष्टों की सेवा करके उनसे निर्विषय-तत्त्वविषयक शांकर-सम्प्रदायानुमोदित ब्रह्मविद्या प्राप्त की; और अब अपने आप में आत्म-सन्तुष्ट रहकर आत्मस्वरूप परमतत्त्व का अनुभव किया जा रहा है।

●●●

स्वस्त्ययन

यद्देवा देहेडनं देवासश्चकृमा वयम्।
अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान् मुञ्चत्वंहसः॥

(शुक्ल यजुर्वेद)

'कल्याणकारी प्रकाशमान देवताओ! हम लोगों ने जो आप लोगों का, श्रेष्ठ पुरुषों का और ज्ञान का तिरस्कार रूप अपराध किया है, अग्नि स्वरूप परमात्मा उन सब पापों और विघ्नों से हमारी रक्षा करें।'

मनुष्य से जान या अनजान में अपराध होते ही रहते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो देवता न हो अथवा जिसमें देवता न हों-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भी श्रेष्ठता, सद्गुण, सौजन्य आदि का निवास होता है। वे भी अपने विचार, आचार, आलाप-संलाप आदि के द्वारा जगत् का कल्याण करते हुए विचरण करते रहते हैं। देवता आनन्द, प्रकाश और कर्म का आदर्श देते हैं। इनके अतिरिक्त अपने अन्तःकरण में ही सत्य एवं पवित्रता के ज्ञान के रूप में अनेक देवताओं का निवास है। जब हम संसार की वस्तुओं को अशुद्ध करते हैं, महात्माओं के आदेश, आदर्श अथवा संकेत की अवहेलना करते हैं तब अपराध तो होता ही है। सबसे बड़ा अपराध है- अपने ही अन्तःकरण में विराजमान यथार्थ ज्ञान का तिरस्कार करके भोग, वस्तु, कर्म अथवा भाषण को स्वीकार करना। इनके लिए अपने अन्तःकरण में ही विद्यमान परमात्मा से मुक्त होने की प्रार्थना करना सर्वथा उचित है। प्रत्येक प्रार्थना अपना संस्कार छोड़ती है। वह संस्कार गाढ़ होकर निश्चय का रूप धारण करता है। निश्चय गाढ़ होकर समर्थ हो जाता है और वह नये अपराध नहीं होने देता, साथ ही पुराने अपराधों को क्षीण कर देता है।

शास्त्र के द्वारा यह ज्ञात होता है कि क्या पाप है और क्या पुण्य? कर्तृत्व-बुद्धि से करने पर उनका अपने साथ सम्बन्ध होता है। कर्तृत्व-बुद्धि

अपने स्वरूप की अद्वितीयता एवं अपरिच्छिन्नता के अज्ञान से होती है। ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हुए बिना कर्तृत्व-बुद्धि की निवृत्ति नहीं हो सकती। कर्तृत्व-बुद्धि की निवृत्ति हुए बिना पाप-पुण्य की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। समाधि आदि दशाओं में जो कर्तृत्व की निवृत्ति है वह तात्कालिक है, आत्यन्तिक नहीं। अतः ब्युत्थान दशा में फिर पाप-पुण्य का सम्बन्ध हो जाता है। जब तक कर्तृत्व है तब तक पाप-सम्बन्ध की निवृत्ति के लिए त्वं-पदार्थ की प्रधानता से प्रायश्चित्त करना चाहिए या समष्टि शक्तियों से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे पाप से मुक्त कर दें। अग्नि एक समष्टि शक्ति है। दाह और पाक उसकी विशेषता है। वह हिरण्यगर्भ है, जातवेदा है, ईश्वर का अवतार है। उसमें पाप को भस्म कर देने की शक्ति है। अतः इस मन्त्र में अग्नि से यह प्रार्थना की गयी है कि हमें पाप से मुक्त करें।

: : ९ : :

सत्सङ्ग

'सङ्ग' शब्द हिन्दी में 'साथ' के अर्थ में होता है और सन्त में आसक्ति का नाम 'सत्सङ्ग' होता है। आसक्ति माने प्रीति। गीता में तो 'सत्' शब्द की 'डिक्शनरी' है-

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

(गीता 17.26-27)

देखो 'सत्' शब्द का इसमें कितना अर्थ दिया है- सद्‌भाव, साधुभाव, प्रशस्त, कर्म, यज्ञ, दान, तप और इनके लिए जो प्रयत्न है उसके लिए भी 'सत्' शब्द बनता है। शायद ऐसा और शब्द गीता में नहीं है, जिसके इतने अर्थ बताये गये हों।

सत्सङ्ग का एक अर्थ यह है कि सत्स्वरूप जो आत्मा है, उसमें स्थित होना। दूसरा अर्थ हुआ कि अपने हृदय में जो सद्भाव हैं, दूसरों के प्रति साधुभाव हैं, दूसरों का भला करने का जो भाव है, उसमें स्थित रहना। जो अच्छे-अच्छे लोग हैं उनका संग करो और यज्ञ, दान, तप करो। इनके लिए प्रयास करो। इनको 'सत्' बोलते हैं और फिर इन 'सत्' शब्द के अर्थ की प्राप्ति, जिस व्यक्ति के संग से मिलती हो, उस व्यक्ति के संग को 'सत्संग' कहते हैं। तो 'सतां संगो हि भेषजम्' एक ने कहा कि गुड़ खा लो, फिर कहा कि नहीं, गुड़मार बूटी खा लो। दूसरे ने कहा-खाना ही तो है-गुड़ खाना भी खाना है और गुड़मार बूटी भी खाना है। चाहे जो खा लें। तीसरे ने कहा-नहीं। गुड़ आपके जीवन में मधुमेह पैदा कर सकता है और गुड़मार बूटी मधुमेह को मिटा सकती है। तो एक संग होता है जो संसार में

आसक्ति बढ़ा करके फँसा है और एक संग होता है वह, जो संसार से आसक्ति छुड़ाता है।

सतां संगो हि भेषजं, सर्वसंगापहो हि माम्।

(भागवत ११.१२.२)

सत्सङ्ग संसार की सम्पूर्ण आसक्तियों को मिटाने वाला परम औषध है, भेषज है। इसलिए 'सत्सङ्ग' शब्द का अर्थ भगवत्-संग भी होता है, भगवदासक्ति भी होता है और जिससे भगवदासक्ति मिलती हो, उन सन्तों की आसक्ति, उन सत्-कर्मों की आसक्ति, उन सत्-शास्त्रों की आसक्ति, ये सभी अर्थ 'सत्सङ्ग' के अन्तर्गत आते हैं।

: : २ : :

धर्म और ब्रह्मज्ञान

धर्म की किसी भी व्यवस्था को हम यदि गहराई से समझ लेंगे तो वह व्यवस्था ब्रह्मज्ञान तक पहुँचा देगी। सारी व्यवस्थाओं में मुख्य लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है, वे व्यवस्थायें नहीं हैं। जैसे आप वर्ण को समझें तो शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण की तरह विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। आश्रम-व्यवस्था को समझें तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी बिल्कुल विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय है। राम अवतार को समझें तो शत्रुघ्न, लक्ष्मण, भरत और राम-ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय हैं। ऐसे कृष्ण को समझें तो कृष्ण, प्रद्युम्न, संकर्षण और अनिरुद्ध-इनमें अनिरुद्ध विश्व, प्रद्युम्न तैजस, संकर्षण प्राज्ञ और कृष्ण तुरीय हैं। ऐसे तीर्थों की व्यवस्था को भी समझें तो यही बात निकलेगी। देखो, जगन्नाथपुरी विश्व, रामेश्वर तैजस, द्वारका प्राज्ञ और बद्रीनाथ तुरीय है। माने हमारे महात्माओं ने पहले तत्त्व की अनुभूति और उसकी प्रक्रिया ठीक-ठीक बैठा ली और उसके बाद वर्ण, आश्रम, अवतार, तीर्थ, नदी सबकी व्यवस्था बताई। यह सब साधारण-से-साधारण व्यक्ति समझ जाये माने सबको हम निर्द्वन्द्व बना दें। निर्द्वन्द्व माने राग-द्वेष से रहित- जिसमें धर्म-अधर्म का द्वन्द्व न हो और राग-द्वेष का द्वन्द्व न हो और सुख-दु:ख का द्वन्द्व न हो, पति-पत्नि का द्वन्द्व न हो, भोक्ता-भोग्य का द्वन्द्व न हो, उसी को बोलते हैं निर्द्वन्द्व।

'द्वौ द्वौ इति द्वन्द्वम्'

जोड़े-जोड़े को '**द्वन्द्व**' बोलते हैं और जिसमें बिल्कुल जोड़ा नहीं हो, उसको '**निर्द्वन्द्व**' बोलते हैं। तो ब्रह्मतत्त्व निर्द्वन्द्व है। उसमें जीव-ईश्वर का भी जोड़ा नहीं है। उसमें जगत्-ईश्वर का भी जोड़ा नहीं है। माया और ईश्वर का भी जोड़ा नहीं है। एक अखण्ड परमतत्त्व सत्य। देखो, न इसमें जातीय भेदभाव है, मनुष्य और पशु; न इसमें साम्प्रदायिक भेदभाव है-

हिन्दू-मुसलमान। यह तो अपने-अपने फायदे के लिये लोग एक भाव को बढ़ावा देते हैं और दूसरे भाव को हीन बताते हैं। जब कहीं लड़ाई होती है वहाँ किसी-न-किसी पार्टी का स्वार्थ होता है। सामूहिक लड़ाई नहीं हो सकती। और, यह परब्रह्म परमात्मा सबका अपना आत्मा है। इसमें न पशु और मनुष्य का भेद है, न पशु-पक्षी का भेद है, न हिन्दू-मुसलमान हैं, न भारत-पाकिस्तान है। न इसमें अमीर-गरीब है। न इसमें वर्गयुद्ध है, न इसमें सम्प्रदाय युद्ध है, न जाति युद्ध है, न राष्ट्र युद्ध है, न प्रान्त युद्ध है। सम्पूर्ण संघर्षों से परे, वैमनस्यों से परे है।

नारायण, कोई भी वैदिक धर्म के जितने तीर्थ, वर्ण, आश्रम, अवतार हैं- ये ब्रह्मतत्त्व को समझाने के लिए प्रतीकात्मक हैं। उसमें समझ मुख्य है, अनुष्ठान मुख्य नहीं है, स्थिति मुख्य नहीं है; तदाकार-वृत्ति भी मुख्य नहीं है। अनुष्ठान कर्मात्मक होता है और तदाकार-वृत्ति अभ्यासात्मक होती है और स्थिति अभ्यास का फल होती है। अनुष्ठान विश्व में और तदाकार-वृत्ति तैजस में है और स्थिति प्राज्ञ में है और इनसे निरपेक्ष जो है, वह आत्मतत्त्व है। न उसको स्थिति की जरूरत है, न वृत्ति की जरूरत है, न कृति की जरूरत है। कृति शरीर में होती है, वृत्ति मति में होती है और स्थिति कारण में होती है और अपना स्वरूप सबसे निर्द्वन्द्व है।

तो वस्तु को समझाने के लिए वेद-वेदांत प्रवृत्ति हुई है, वह विलक्षण है। अपना आपा परम सत्य ब्रह्म है- देश, काल, वस्तु से अपरिच्छिन्न, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से शून्य, द्वैत से बिलकुल रहित, जिसमें दृश्यप्रपंच भी बाधित होने के कारण, मिथ्या होने के कारण अपने से अभिन्न ही है। वेदान्त का तात्पर्य तो इस परमतत्त्व में है।

●●●

: : ३ : :

भक्ति एवं धर्म का वैलक्षण्य

एक बात ध्यान देने की है कि भक्ति और धर्म में थोड़ा अन्तर है। धर्म बहिरंग है और भक्ति अंतरंग है। धर्म में केवल अपने कर्तृत्व का बल रहता है और भक्ति में भगवान् के अनुग्रह का बल रहता है। आजकल के छोकरे कहते हैं कि ईश्वर पर विश्वास करना तो कमजोर लोगों का काम है। शास्त्र का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि जिसमें आत्मबल नहीं होगा, वह किसी के विश्वास पर टिक ही नहीं सकता। विश्वास करने में थोड़ा धैर्य की आवश्यकता होती है कि ये हमारा काम बना देंगे, ये समय पर हमारी सहायता करेंगे, ये हमारी भलाई चाहने वाले हैं। तो विश्वास के लिए आत्मबल की आवश्यकता होती है। जो किसी पर विश्वास नहीं करता, वह किसी की आशा भी नहीं रख सकता, प्रतीक्षा भी नहीं कर सकता, धैर्य भी नहीं रख सकता और विपरीत परिस्थिति को सहन भी नहीं कर सकता है। बल्कि हमने तो दसियों बार ऐसा देखा है कि जहाँ कोई आश्चर्यजनक चमत्कार होने वाला होता है वहाँ विपरीत परिस्थिति बन जाती है। पहले लगता है कि अब नहीं होगा, अब नहीं होगा, अब नहीं होगा और ऊपर से कोई ऐसा आश्चर्य प्रकट होता है कि देखकर दंग रह जाना पड़ता है कि ईश्वर के अनुग्रह के बिना यह काम नहीं बन सकता था। वहाँ ईश्वर का अनुग्रह बिलकुल स्पष्ट मालूम पड़ता है।

तो भक्ति अपने प्रभाव को प्रकट करती है। क्योंकि धर्म में केवल कर्ता का और विधि का, भावना का बल होता है और भक्ति में इन बलों के साथ-साथ ईश्वर का भी बल होता है।

एक महात्मा थे। उनसे हमलोग कहते थे कि महाराज, डॉक्टर, वैद्य लोग कहते हैं कि चलो जरा घूम आओ। आपका शरीर स्वस्थ रहेगा। वे

कहते थे कि हमारा मन उठने का नहीं होता। आसन जमा है। अपने मजे में हैं। अरे, शरीर जब छूटना होगा, छूट जायेगा। फिर किसी ने आकर कहा कि महाराज, जंगल में शंकर जी का बड़ा पुराना मन्दिर है, चलिए दर्शन कर आवें। उठे और चल पड़े। अब देखो, इसमें अन्तर क्या हुआ? एक में अपने शरीर को ठीक करना उद्देश्य था। जाना एक-सा। पाँव से ही चलकर गये। लेकिन दोनों में जो उद्देश्य का अन्तर है, उस पर आपकी जब तक दृष्टि नहीं जायेगी तब तक जाने और न-जाने में क्या फर्क है- इस बात को कैसे समझेंगे।

तो धर्म में उद्देश्य है आत्मसुख और भक्ति में उद्देश्य है समष्टि-सुख। समष्टि अन्तर्यामी ईश्वर की सेवा, सबके दिल में रहने वाले ईश्वर को प्रसन्न करना- यह भक्ति की महिमा है।

:: ४ ::

धर्म की उपयोगिता

धर्म जब हमारे जीवन में आता है, प्रकट होता है, तब वह तीन काम करता है– एक तो दोषापनयन और दूसरे, गुणाधान और तीसरे, हीनांगपूर्ति। प्रथम दो काम प्रसिद्ध हैं, और तीसरा अप्रसिद्ध है। धर्म चरित्र–शुद्धि के द्वारा हमें परमात्मा के सम्मुख करता है। जो लोग यह समझते हैं कि लायब्रेरी में स्टडी करके या जैसे बिजली या परमाणु के बारे में, मशीनों के बारे में व्याख्यान सुनकर उनके अनुसार काम कर लेते हैं, वैसे ही हम ईश्वर के बारे में व्याख्यान सुनकर ईश्वर को प्राप्त कर लेंगे– यह उनकी गलती है भला। इसके लिये जीवन में वासनाओं को न रोक सकने के कारण जो बुराइयाँ हैं, उनका बुराइयों का परित्याग करना आवश्यक है। तो धर्म सीधे परमेश्वर की प्राप्ति का साधन नहीं है। चरित्र–शुद्ध के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति का साधन है।

हम जो पाना चाहते हैं, उसके लिये कुछ करने को भी राजी हैं कि नहीं? कुछ छोड़ने को भी राजी हैं कि नहीं? यदि हम नयी चीज पाना चाहते हैं और उसके लिये कुछ छोड़ने को राजी नहीं हैं, दो आने की कीमत चुकाने को तैयार नहीं हैं और उसके लिये दुकान तक जाने को भी राजी नहीं हैं; तो उस चीज को पाने में अपनी आस्था है, श्रद्धा है, रुचि है– इसका तो कोई प्रमाण नहीं है। एक संत ने कहा कि भाई देखो, तुम ईश्वर को तो प्राप्त कर सकते हो, लेकिन बाँये वाले रास्ते से मत जाना! तो उसने कहा कि महाराज, हम तो बाँये वाले रास्ते से चलेंगे, ईश्वर मिलना हो तो इधर मिले और न मिलना हो तो मत मिले। इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर प्राप्ति की इच्छा अपने मन में नहीं है। वह केवल, वाचिक माने वचन मात्र की इच्छा है, वास्तविक इच्छा नहीं है।

तो धर्म जो है, वह एक तो चरित्र शुद्धि लाता है। माने पाप-वासना के अनुसार कर्म नहीं होवें। पुण्य-वासना के अनुसार कर्म होवें। और, मन में ईश्वर की प्राप्ति के लिये उत्साह जगे।

●●●

: : ५ : :

'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब'

मनुष्य को यह तो मालूम नहीं है कि जिन्दा कितना रहेगा!

'क्षणार्धेनैव जानामि विधाता किं विधास्यसि'

विधाता क्या करेगा, यह मालूम नहीं है। सोचते रहते हैं- यह होगा, यह होगा, यह होगा। बचपन में हमने एक श्लोक याद कर रखा था और गाते थे,

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदेष्यति हरिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥

एक भँवरा सायंकाल कमल पर बैठकर रस पी रहा था। सूर्यास्त हो गया। तो कमल बंद हो गया। सो वह कमल का प्रेमी भँवरा उसमें बंद हो गया। अब वह रात को सोचने लगा कि यह रात तो बीत जायेगी और सुप्रभात होगा और सूर्योदय होगा और यह कमल की जो शोभा है, वह हँसने लगेगी। खिल जायेगा कमल। इसी तरह वह भँवरा सोच ही रहा था कि इतने में एक हाथी कहीं से घूमता-फिरता आया और उसने सूँड से कमल को उखाड़ा और मय भँवरे के मुँह में दे दिया। कमल भी खत्म और भँवरा भी खत्म।

तो नारायण, ये जो संसारी लोग हैं, ये कल्पना तो बड़ी-बड़ी करते हैं। कल का मालूम नहीं है और बेईमानी करते हैं पाँच पीढ़ी के लिये कि हमारी पीढ़ी में कोई गरीब नहीं होवे। कल का पता तो नहीं है- पीढ़ी रहेगी कि नहीं रहेगी, तुम रहोगे कि नहीं रहोगे! इसलिए,

'गृहीत इव केशेषु मृत्युनाधर्ममाचरेत्'।

धर्म के बारे में कभी टालमटोल नहीं करनी चाहिए कि हम बाद में इसका अनुष्ठान करेंगे।

भक्ति-मार्ग की पराकाष्ठा यह है कि भगवान् की स्मृति करके जगज्जाल से मुक्त हो जायें।

●●●

:: ६ ::

जरा चलिये तो

जरा ईश्वर की कथा भी सुनिये।

देखो, ईश्वर की कथा के लिये तीन कदम चलो और चौथे कदम में ईश्वर मिल जाता है- यह इसकी कथा है। पहला कदम क्या है? इस देह में से 'मैं' छोड़ दो और विराट् में 'मैं' करो। सारी सृष्टि हमारा स्वरूप है। मैं चेतन हूँ और यह सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है। तो पहला कदम यही है कि देह में से 'मैं' को हटाओ। दूसरा कदम यह है कि विराट् में से भी 'मैं' को हटाओ। मैं हिरण्यगर्भ हूँ और सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि मेरा स्वप्न है। मेरे मन में है भला! दो कदम हो गया। तीसरा कदम उठाओ- मैं वह चैतन्य हूँ, जिसमें बीज रूप से सारी सृष्टि लीन होती है और उदय होती है। और, इसके बाद चौथा क्या? मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म हूँ, मुझमें न बीज है सुषुप्तिवत् और न स्वप्न है अंकुरवत् और न वृक्ष है जाग्रतवत्। ईश्वर की प्राप्ति के लिए, परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के लिये ये चार कदम हैं। देह में से विराट् में-एक, विराट् में से हिरण्यगर्भ में-दो, हिरण्यगर्भ में से ईश्वर में-तीन और चौथा तो साक्षात् ब्रह्म। परमात्मा की प्राप्ति के लिये ये चार पाद हैं। माने चार कदम रखने की जरूरत है।

नारायण कहो! अब यहाँ पहला ही कदम नहीं उठता है। परिच्छिन्न देह में से जो मैं-पना है, वह उठकर विराट् में रखना-यही मुश्किल पड़ता है। हमने जब महात्माओं का सत्संग किया, श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज का सत्संग किया तो उन्होंने कहा कि भाई, एक झपट्टे में ही इसको तो खा जाओ। लोक के लिए कि हम सम्राट् हो जायें- इसके लिए देह में 'मैं' मत रखो। हम स्वर्ग में इन्द्र होकर रहें- इसके लिए भी देह में 'मैं' मत रखो। हम ब्रह्मलोक में ब्रह्मा होकर रहें- इसके लिए देह में 'मैं' मत रखो। हम

भगवान् के पार्षद होकर रहें- इसके लिए भी परिच्छिन्न में 'मैं' मत रखो। सारे अनर्थ की जननी, सारे विघ्न, बाधाओं का मूल बीज यही देह में 'मैं' है।

तो ईश्वर कथा होनी चाहिये। ईश्वर कथा कैसे आती है?

क्रिया-शक्ति, भक्ति-निष्ठा और ज्ञान माने कर्म, ज्ञान और भक्ति- ये तीनों ईश्वर की कथा में होनी चाहिये। सत् में क्रिया होती है और चित् में ज्ञान होता है और आनन्द में भक्ति होती है। चित् में वृत्ति-ज्ञान, सत् में कर्म, आकृति और आनन्द में भक्ति-वृत्ति। और, असत्, अचित्, दुःख की निवृत्ति हो जाने पर सच्चिदानन्द पद का जो लक्ष्यार्थ है ब्रह्म, वह आत्मा ही है, यह ज्ञान हो जाने पर साधन और साध्य की चर्चा ही नहीं रहती है।

परंतु, जरा चलिये तो!

: : ७ : :

आप नासमझ क्यों बनते हैं?

एक आपको-छोटी सी घटना सुनाते हैं। एक आदमी ने किसी को गाली दी। तो वह तो हँसने लगा। गाली सुनकर हँसने लगा वह, अपमान का अनुभव नहीं किया कि हमारी 'इन्सल्ट' हो गई। तो उसके साथी ने पूछा कि क्यों भाई! यह दे रहा है गाली और तुम हँस रहे हो? बोले, अरे भाई! तुम जानते नहीं; हमारा-इनका साला-बहनोई का सम्बन्ध है। बड़ा घनिष्ठ रिश्ता है। इनको तो हमें गाली देने का हक है। और, दोनों हँसने लगे। लो गाली की गाली हो गई। गाली का जवाब भी हो गया। और, हँसी की हँसी भी हो गयी।

एकबार हम, दादा और दूसरे लोग एक मोटर में जा रहे थे। बम्बई में टैक्सी ड्राइवर लोग कभी-कभी बड़ी गड़बड़ करते हैं। हम तो मोटर में जा रहे थे, कोई सेठ की थी। पीछे से टैक्सी वाला आया और सड़क पर, मैरीनड्राइव पर पानी पड़ा हुआ था, उछालता हुआ आगे बढ़ गया। अब हमारी मोटर में आया पानी। तो, कपड़े खराब हुए-सो-हुए ही, मुँह में भी चला गया। अब हमारे साथ बैठे हुये थे स्वामी प्रेमपुरी जी महाराज, उनका पोपला मुँह था, खुला हुआ था। पानी चला गया। तो, वे क्या बोलते हैं कि देखो! ठाकुरजी का चरणामृत तो बहुत पिया था और महात्माओं का भी बहुत पिया था। परन्तु, अभी तक मोटर का चरणामृत नहीं पिया था। आज बिलकुल नया मिल गया। हमारा ड्राइवर चाहता था कि हम भी अपनी मोटर आगे ले चलें और यह सड़क का पानी टैक्सी ड्राइवर के ऊपर और ड्राइवर के यात्रियों पर छिड़क दें। और, स्वामी जी ने तो ऐसा हँसाया, ऐसा हँसाया कि वह जो ड्राइवर को गुस्सा आया था, वह भी हँसने लग गया। तो यह महाराज व्यवहार की, जीवन की एक कला है जिसमें आप हमेशा सावधान रहें। तो जहाँ आप क्रोध से जलने लगते हैं, आग बबूला हो जाते हैं, वहाँ भी आप हँसी खेल में काम चला सकते हैं।

एकबार हमलोगों ने हनुमानप्रसाद जी पोद्दार के बहनोई को आमंत्रित कर लिया कि हमारे साथ भोजन करो। हम वहीं थे, गृहस्थ थे उस समय। अब उस दिन ऐसा हुआ कि हमारा जो रसोइया है उसके घर पर कोई सूतक-पातक हो गया। वह चला गया कि रसोई नहीं बनावेंगे। तो एक गाँव में से एक नया और बड़ा बूढ़ा महाराज आया। बीकानेर का मारवाड़ी ब्राह्मण था। बड़ी-बड़ी दाढ़ी थी उसकी। उसने कहा, 'हमने तो बीकानेर के महाराज की रसोई बनाई है, दस बरस उनके पास रहा हूँ। हमारी जैसी रसोई बनाना तो कोई जानता ही नहीं है इस गाँव में।' बहुत बढ़िया बाबा-आज हमारे मेहमान आने वाले हैं, रसोई बनाओ। अब उसको दीखता था कम और महाराज खाते थे लाल मिर्च। तो जब उसने बनाया तो सब्जी मिर्च-मिर्च की बना दी, दाल कच्ची रह गई, रोटी जल गई, भात जल गया। जब हम आठ-दस जने साथ बैठे भोजन करने को तो कोई चीज खाने लायक नहीं थी। पर हमारे एक मित्र थे, उनका नाम था-भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'। वे बोले कि महाराज! आपने तो भोजन बनाने के सम्बन्ध में बड़ा अनुभव प्राप्त किया है। उसने कहा, हाँ, हाँ क्यों नहीं'। अब अँधेरा था। मालूम तो पड़े नहीं। बोले कि ऐसा भोजन हमलोगों ने अपने जीवन में कभी नहीं खाया था चाहे किसी से पूछ लो। तो अब हमलोग हँसने लगे। वह जो मेहमान थे वह हँसने लगे। बोले-वाह, वाह, वाह! आपने तो ऐसा भोजन बनाया है कि हमलोगों को कभी मिला ही नहीं। कैसी पकी-पकी रोटी है। बोले ठीक है। कहीं भात अलग-अलग रहते हैं न, तो यह भेदभाव ठीक नहीं है। सबका एक में मिल जाना ठीक है। तो भक्त हैं भक्त। अब महाराज, ऐसी प्रसन्नता का, ऐसा हँसने का वातावरण बना कि सारा दु:ख जो है वह दूर हो गया।

तो व्यवहार की एक कला होती है और उसमें यह अभ्यास करना पड़ता है कि बाहर की परिस्थिति चाहे जैसी हो, धूप हो या ठंडक हो, और सामने वाला अपने मन में क्या रखता है। इससे कोई मतलब नहीं। वह तो देख नहीं सकते, अंदाज करते हैं, हमारा मन प्रसन्न होना चाहिये। 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'। आप इन्द्रियों से विषयों का भोग करो। परन्तु, कहीं राग-द्वेष न हो जाये। उसके रंग में रंग न जायें कि हाय, हाय इसके बिना तो हम जी नहीं सकते। कितना पराधीन जीवन हो गया

उस आदमी का। जिसके मुँह से यह निकल गया कि इसके बिना हम जी नहीं सकते। और, कितना दु:खी जीवन हो गया कि यह चीज हम देख नहीं सकते, इसका नाम सुन नहीं सकते। अब तो आपकी किल्ली काटी आपके दुश्मन के हाथ में चली गयी। वह जब चाहेगा तब उसका नाम सुनावेगा। जब चाहेगा उसका वर्णन करेगा और जब चाहेगा तभी आपके दिल में चोट पहुँचा देगा। आपने तो अपने हृदय के सुख-दु:ख को, जो भीतर रहना चाहिये था उसको उठाकर बाहर रख दिया। आपने अपने को दुश्मन के हवाले कर दिया। वह जब चाहे आपको हँसा दे और जब चाहे आपको रुला दे। आपने हृदय के बल्व का स्विच दुश्मन के घर में लगा दिया। आप अपने मन को प्रसन्न रखना नहीं जानते। शंकराचार्य भगवान् से किसी ने पूछा कि महाराज! आप अद्वैत, अद्वैत करते हैं, इससे क्या लाभ है? फायदे की बात होनी चाहिये। इसमें क्या फायदा है? तो उन्होंने कहा कि इसमें एक ही फायदा है कि मनुष्य अपने जीवनकाल में राग-द्वेष की आत्यन्तिक निवृत्ति करने में सफल हो जाता है। यह माण्डूक्य उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्यजी ने लिखा है कि हमारे अद्वैत ज्ञान का इस जीवन में यदि कोई फल है तो वह यह फल है कि उसका संसार में कहीं पक्षपात नहीं होता है और किसी के प्रति वह क्रूरता नहीं करता है। आपके हृदय में अगर समझदारी आई है तो वह राग-द्वेष का स्थान अपने हृदय में नहीं रहने दे सकती। तत्त्वज्ञान का यही फल है। यह शैव-वैष्णव की लड़ाई जो है, वह अज्ञान का फल है। यह हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा जो है वह अज्ञान का फल है। यह जाति-जाति का, प्रान्त-प्रान्त का, भाषा-भाषा का राष्ट्र-राष्ट्र का जो द्वन्द्व है, यह बेवकूफी का नतीजा है, नासमझी है। यह नहीं कि उसने ऐसा किया, तब हमने ऐसा किया। पहले किसने किया यह सवाल नहीं है। 'मन: प्रसाद:'-आप अपने मनको हर हालत में निर्मल बनाइये। कोई मलिनता हृदय में न आवे, किसी को आप नुकसान पहुँचाना न चाहें, हानि पहुँचाना न चाहें- आप अपने मनको ऐसी स्थिति में रख सकते हैं कि नहीं? नहीं रख सकते हैं तो आइये! आपको हमारी जरूरत है, हमारे भाई की जरूरत है, सत्संग की जरूरत है। 'मन: प्रसाद:' अपने मनको प्रसन्न रखें। और, 'सौम्यत्वं-'सौम्य का अर्थ क्या होता है? एक दृष्टि से तो सौम्यता का अर्थ समझदारी ही होता है। मनको निर्मल रखना, कैसे रखना?

समझदारी से रखना। उसमें और कोई सहारा नहीं। यह नहीं कि भांग पी ली और मस्ती आ गयी। वह तो तुमने अपनी जिन्दगी भांग के हवाले कर दी, गोली खा ली, इंजेक्शन लगवा लिया, नशा पी लिया। 'नास्ति शम् अनया' जिससे शान्ति कभी नहीं मिल सकती, उसका नाम नशा होता है। उससे शान्ति नहीं मिलेगी। उससे थोड़ी देर तक आप अपने को धोखे में रख सकते हैं, कि हाँ-हाँ, हम बड़ी मस्ती में हैं। अपने मनको प्रसन्न रखने के लिये आदमी नहीं चाहिये, दवा नहीं चाहिये, पैसा नहीं चाहिये। तब क्या चाहिये? समझदारी चाहिये, सौम्यता चाहिये।

सौम्यता माने-'बुध-भाव' हो। सौम्य माने-ज्योतिष शास्त्र में चन्द्रमा का पुत्र 'बुध' होता है। बुध को सौम्य बोलते हैं। सोम का पुत्र 'सौम्य' है। 'सोमस्यापत्यपुमान् सौम्यः सौम्यत्वं बुधत्वं'। आप बुध होकर रहिये। बुध माने आप अपने पाण्डित्य को, अपनी बुद्धिमता को बनाये रखिये। आप नासमझ न बन जाइये।

एकबार हमलोग जिलहरी घाट गये, दिनभर रहे। तो हमारे साथ कई यहाँ के पढ़े-लिखे लोग भी थे। जब नर्मदाजी जाने लगे तो श्मशान है उधर, लोग मुर्दा डाल देते हैं, तो कुत्ते थे वहाँ। तो वे महाराज! भोंकते हुये हमलोगों की ओर आये। हमारे साथ जो एम.ए., बी.ए., एफ.ए. में पढ़ने वाले लोग भी थे, वे भी कुत्तों के साथ मुँह बनाकर भोंकने लग गये। तो नारायण! गधा आपको लात मारे तो आप भी उसको लात मारेंगे? इसके माने क्या हुआ? कुत्ता आपको भौंकता है तो आप भी उसको भौंकने लग गये। तो नारायण, सामने वाला अगर आपको घूँसा मारता है या गाली देता है तो आप भी अगर जवाब में गाली देने लगे तो आप वही तो हो गये; उसका होना जो आपको पसन्द नहीं है।

सामने वाला नासमझी करता है, बेवकूफी करता है, गलत काम करता है तो उसको देख करके आप गलत काम मत कीजिये। आप अपनी सौम्यता, बुधता, पाण्डित्य, वैदुष्य बनाये रखिये। आप नासमझ क्यों बनते हैं?

●●●

:: ८ ::

भारतीय संस्कृति में विवाह की उपयोगिता

एक विवाह होता है भोग-वासना की पूर्ति के लिये और एक विवाह होता है वासना की निवृत्ति के लिये, धर्म-निष्ठा के लिये, संयम के लिए। आजकल कूएँ में भाँग पड़ गई है भला। सारा गाँव पागल। लोग समझते हैं कि ब्याह केवल भोग के लिए होता है। अच्छा आप सोचो, भोग में वैराग्य है कि नहीं? विवाह में वैराग्य है कि नहीं? एक पुरुष का एक हजार स्त्री से संयोग हो सकता है और एक स्त्री का हजार पुरुष से संयोग हो सकता है। तो वासना की इस उच्छृङ्खल प्रवृत्ति को रोक कर एक स्त्री को एक पुरुष में, एक पुरुष को एक स्त्री में बाँध देना- यह विवाह वासना को मिटाने का उपाय है कि विवाह वासना को बढ़ाने का उपाय है? तो विवाह-संस्कार तो वासना को मिटाने का उपाय है। लक्ष्य में भेद हो गया। पौरस्त्यलोग पिछड़े हुए हैं कि पाश्चात्य-लोग पिछड़े हुए हैं? संस्कृत भाषा बोलती है कि जब हम सूर्य की ओर, प्रकाश की ओर मुँह करके खड़े होते हैं तो हमारी पीठ की ओर जो लोग पड़ते हैं वे पिछड़े हुए हैं। अभ्युदय सूर्य की ओर से आता है और पिछड़ा-पना पाश्चात्यों में जाता है।

केवल भोग के लिए विवाह-भोग तो स्वाभाविक है, भोग तो विकृति है। वह तो प्रकृति में उत्पन्न होती ही है। जो भोग से पैदा हुआ है उसके अन्दर भोग वासना रहती है।

श्रीमद्भागवत में वर्णन आया है कि शर्याति की पुत्री सुकन्या ने एक ओर तो पिता की आज्ञा मानकर च्यवन ऋषि से विवाह किया और दूसरी ओर पति की सेवा करने लगी तो उसके अन्दर संयम आया, तपस्या आयी, धर्म आया, सहिष्णुता आयी, सुशीलता आयी। सारे सद्गुण उसके अन्दर आ गए। अब वे फले। अश्विनीकुमार ने देखा कि यह युवा कन्या और

वृद्ध-ऋषि की सेवा में है। प्रकट हो गए। यह देखो, देवता का अनुग्रह हुआ। माने ईश्वर ने अश्विनीकुमार का अवतार ग्रहण किया। जैसे धन्वन्तरि अमृत लेकर आये, वैसे अश्विनीकुमार औषध लेकर आये और च्यवन ऋषि को उन्होंने जवान बना दिया। यह धर्म का फल है। यह ईश्वरानुग्रह है।

अब जब अश्विनीकुमार ने च्यवन को जवान कर दिया तो पातिव्रत की एक बार परीक्षा हुई। दोनों अश्विनीकुमार और च्यवन एक सरीखे हो गए। अब उस समय सुकन्या का मन डिग जाता? शास्त्र में ऐसा वर्णन आया है कि अश्विनीकुमार बड़े सुन्दर हैं। उनको नित्य स्वास्थ्य है, नित्य यौवन है, देवता है। सुकन्या का मन डिग जाता तो? हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी कि महाराज, आप दो देवता हैं और एक हमारे पति हैं। तो हम दोनों देवताओं से प्रार्थना करती हैं कि आप कृपा करके हमारे धर्म की रक्षा करो! हमारे पति की पहचान बता दो कि कौन हैं? मैं तो नहीं पहचानती हूँ। दोनों अश्विनीकुमार अलग हो गए। यह पातिव्रत-धर्म की महिमा है। मानव-धर्म के अन्दर सुकन्या का यह धर्म है। अच्छा, इसमें वैराग्य है कि नहीं है? इसमें भी वैराग्य है। इसमें भगवान् का अनुग्रह है।

●●●

:: ९ ::

'व्यवहारः शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपो वा'

यदि कोई स्वामी चाहता हो कि हमारा सेवक हमारी शुद्ध भक्ति करे, तो उसको अपने सेवक के प्रति कृतज्ञ होना आवश्यक है। जो वह सेवा कर रहा है, उसको समझे। व्यवहार माने लेना-देना नहीं होता। देना-लेना तो व्यवहार का अत्यन्त निकृष्ट, अत्यन्त स्थूल रूप है। व्यवहार में दो चीज हमलोग मानते हैं- एक तो वाणी जो है, उससे हम जो बोलते हैं, वह हमारा व्यवहार है और दूसरे, हम मनमें जो सोचते हैं, वह हमारा व्यवहार है।

'व्यवहारः शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपो वा'

अगर हम अपने मनमें किसी को मारते हैं तो शत्रुता का व्यवहार करते हैं। भले हम बाहर से उसे हाथ जोड़ें और मुस्करायें। राग-द्वेष का वह जनक है। तो मानसिक स्फुरणा और वाणी का व्यापार- इन्हीं दोनों से व्यवहार का पता चलता है।

एक दिन हम एक सेठ की गद्दी में बैठे हुये थे। एक भिखमंगा आया। सेठ देखकर बोले कि भगाओ, भगाओ यह कहाँ से आ गया? फिर बोले कि अच्छा, चार आना इसको दे दो। उनके मुनीम ने एक चवन्नी तो दी, लेकिन दस गाली भी ऊपर से सुनायी। अब उसकी चवन्नी बेकार गई। असल में लेने वाले के हृदय में जो भगवान् बैठे हुए हैं, वे प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे दें- इतना ही तो चवन्नी देने का प्रयोजन है। अब वह चवन्नी तो दी, लेकिन गाली भी साथ-साथ दी। तो उसका अंतःकरण प्रसन्न नहीं होगा और जो सद्भाव उसके हृदय में बंद है, वह खुलकर बाहर नहीं निकला।

जिसके पास जो चीज होती है, वही वह देगा। शक्कर का व्यापारी शक्कर ही देगा, और क्या देगा? तो मनुष्य को मिठास का व्यापारी होना चाहिए। वह अपने मन और वचन से मधु का दान करे, मिठास देवे।

●●●

: : १० : :

व्यवहार एवं परमार्थ

स्वप्न में देश, काल और वस्तु युगपत् प्रतीत होते हैं। युगपत् माने एक साथ। स्वप्न में दिन है- तो यह काल है और स्वप्न में लम्बाई-चौड़ाई है- तो यह देश है; स्वप्न में कोई वस्तु है। तो वस्तु की उत्पत्ति और नाश के बिना काल की प्रतीति नहीं होती और वस्तु की स्थिति के बिना देश की भी प्रतीति नहीं होती। इसलिए बिना वस्तु प्रतीति के देश, काल की प्रतीति होना शक्य नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि देश, काल, वस्तु तीनों जब तक प्रतीत होते हैं तब तक अनादि और नित्य रूप से प्रतीत होते हैं और जब अधिष्ठान के ज्ञान से उनका बाध होता है, तब तीनों एक साथ बाधित हो जाते हैं। तो ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से देश, काल वस्तु तीनों का अस्तित्व नहीं। तो अनादिता भी कल्पित है और नित्यता भी कल्पित है। इसलिए वेद, ईश्वर, माया, धर्म, प्रपंच, देश, काल सबकी अनादिता और नित्यता कल्पित है। और, जो चीज कल्पित होती है, वह कल्पना में भी होती है। तो जो कल्पना का साक्षी होता है वही कल्पित का भी साक्षी होता है। चूंकि देश-काल कल्पित हैं, इसलिए देश-काल की कल्पना का जो साक्षी है, वही देश-काल का भी साक्षी है। अतः वह काल से परिच्छिन्न नहीं होता माने विनाशी नहीं होता और देश से परिच्छिन्न नहीं होता माने अपूर्ण नहीं होता और द्रव्य से भी परिच्छिन्न नहीं होता माने सद्वितीय नहीं होता। इसका अर्थ है कि अपना जो साक्षी आत्मा चेतन है, वह अविनाशी, परिपूर्णतम, अद्वितीय ब्रह्म ही है। इसमें देश, काल, वस्तु की जो कलना है, कल्पना है, वह अधिष्ठान के अज्ञान से ही है। माने अपने स्वरूप के अज्ञान से ही यह सारी कल्पना चल रही है।

तो परमार्थ व्यवहार का बाधक नहीं है। इसलिए परमार्थ के बोध से और प्रपंच के बाध से ज्ञानी महापुरुष के जीवन में एक विलक्षण स्थिति

उत्पन्न हो जाती है। जब तक जीवन है, तब तक स्थिति है। और, वह स्थिति क्या है? पूर्ण स्वातन्त्र्य। और, इस पूर्ण स्वातन्त्र्य को ही जीवन्मुक्ति का विलक्षण सुख कहते हैं। न वह जाति-पशु है, न सम्प्रदाय पशु है, न ग्रन्थ-पशु है, न स्वामी-पशु है। पशुत्व की निवृत्ति हो जाती है। पूर्ण स्वातन्त्र्य तत्त्वज्ञान प्राप्त होने से हो जाता है। इसलिए, जितने बुद्धिमान् पुरुष हैं, बुद्धि के साक्षी अपने आपको ही समझने की चेष्टा करते हैं और अपना आत्मा अधिष्ठान रूप है, चेतनरूप है और अनादि है, अनन्त है। क्योंकि अनादिता, अनन्तता की कल्पना का अधिष्ठान है। यह परिपूर्ण है, क्योंकि परिपूर्णता की कल्पना का भी अधिष्ठान है। परिपूर्णता आँख से नहीं देखी जाती। अविनाशिता आँख से नहीं देखी जाती। अद्वितीयता आँख से नहीं देखी जाती। आँख बन्द करके सोची जाती है। वे हृदय से बाहर नहीं होतीं, हृदय में होती हैं। परिपूर्णता, अविनाशिता, अद्वितीयता इन्द्रिय-गम्य नहीं है; केवल हृदय में कल्पना होती है। तो कल्पना रूप होने से उस कल्पना का जो साक्षी है, आधार है आत्मतत्त्व, वही कल्पना और कल्पित दोनों का आधार है। माने अंत:करण और अंत:करण में ज्ञात होने वाले समग्र पदार्थ- सबका साक्षी और अधिष्ठान एक अद्वय-तत्त्व आत्मा है। इसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यही परमार्थ है।

अब जो छोटी-छोटी चीजों में अहंकार कर बैठते हैं, वह गलत है। माने परिपूर्ण को तो जानते नहीं, अविनाशी को तो जानते नहीं, अद्वितीय को तो जानते नहीं और अपनी छोटी-सी विशेषता को लेकर अभिमान कर बैठे! **'चार दिन की चाँदनी, फिर अँधेरी रात'।** दुनिया तो मिटने ही वाली है। कितने धनी गरीब हो गए! कितने राजा भिखारी हो गए! कितने देवता दैत्य हो गए! व्यवहार में सब ऐसे ही चलता रहता है। तो इसमें अपने अहंकार के नाश के लिए युक्ति करनी पड़ती है। व्यष्टि में जो अहंकार है, उसको समष्टि-अहंकार में अर्पण करना पड़ता है- अहंकार के नाश के लिये यह व्यावहारिक युक्ति है।

●●●

: : ११ : :

कर्म दोष से छूटने का उपाय

पाप-पुण्य कैसे लगता है, इसका एक विज्ञान है। जहाँ हम अपने को कर्ता मानते हैं, वहीं कर्म का दोष लगता है। क्योंकि, कर्म तो प्रकृति से भी हो रहा है, कर्म विकृति से भी हो रहा है। कर्म व्यक्ति से भी हो रहा है, कर्म समष्टि से भी हो रहा है और कर्म ईश्वर से भी हो रहा है। सृष्टि में कर्म तो हो ही रहा है। उनमें **'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** यह भाव की बात नहीं है। भाव से कर्म नहीं बदलता है। हम कई दृष्टान्त आपको दे सकते हैं। यह तो जो अशास्त्रीय लोग हैं, उनकी चर्चा है।

अच्छा, कोई अपनी बहन में पत्नि भाव करे तो अपराध से मुक्त हो सकता है क्या? अच्छा, माता में कोई पत्नि भाव करे तो भाव से मुक्ति मिल सकती है? भाव में मुक्त करने का सामर्थ्य नहीं है भला। यह हम इसलिए बताते हैं कि लोगों का ख्याल इसके बारे में ठीक नहीं है। वे कभी इसके बारे में गम्भीरता से सोचते नहीं। जहाँ तुम स्वयं स्वीकृति दोगे कि यह कर्म मैंने किया है, वहाँ उसके फल के भागी हो! बोले कि अच्छा, हम नहीं स्वीकारते! कैसे नहीं स्वीकारते? तुम अपनी आत्मा के असंग, अकर्ता स्वरूप को जानते हो? या फिर अपने को जानते हो कर्ता और कर्म से मुकरते हो? तो अपने को यदि कर्ता जानते हो तो कर्म से मुकर नहीं सकते। इसलिए कर्ता पुरुष कोई भी कर्म करेगा, तो अच्छा काम करेगा तो उसको पुण्य होगा, उसका मन प्रसन्न होगा, चित्त निर्मल होगा और यदि बुरा काम करेगा तो वह चाहे जितना न-न करे, कर्म उसको लग जाता है। यह कर्म का स्वभाव है। कर्म केवल अकर्तात्मक ज्ञान होने पर कि मैं कर्ता नहीं हूँ, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्म हूँ- यह बोध होने पर नहीं लगता। 'ब्रह्म' माने साक्षी, द्रष्टा नहीं, ब्रह्म माने अनन्त, अद्वितीय अर्थात् मेरे सिवाय दूसरे की कोई सत्ता ही नहीं है- यह ज्ञान होने पर कर्म से मुक्ति मिलती है। नहीं तो कर्म में कर्तापन का भाव आ जाता है।

: : १२ : :

निर्णय करने में सावधान

जब हमलोग किसी से बातचीत करते हैं तो प्रायः अपनी-अपनी सुनाना चाहते हैं, दूसरे की बात सुनने की क्षमता हमारी कम हो जाती है। माने अपने उद्‌वेगों को, आवेगों को बहुत अधिक प्रकट करते हैं और दूसरों की शिक्षा-दीक्षा को कम धारण करना चाहते हैं। सिखाने का उल्लास अधिक होता है। और सीखने का-काम। तो यह एक मानसिक निर्बलता है।

कभी किसी को अपना अभिप्राय देना हो-तो आप थोड़ी-सी सावधानी रखें। उसकी पूरी बात सुन लें कि वह क्या कहना चाहता है, क्या करना चाहता है और उसकी बुद्धि किस दिशा में सोच रही है, उसका लक्ष्य क्या है। यदि सामने वाले के अभिप्राय को आप पहले ठीक-ठीक समझ लेंगे तो आप उस पर ठीक निर्णय दे सकेंगे, और यदि दूसरे का अभिप्राय सुने-समझे बिना ही अपना निर्णय दे देंगे, तो कभी उसकी हानि भी कर सकते हैं। दूसरों की भी हानि करते हैं, अपनी भी हानि कर सकते हैं। क्योंकि सामने वाले की बुद्धि जब हमको मिल जाती है तब हमारी बुद्धि डबल हो जाती है, द्विबल हो जाती है और यदि हम सामने वाले की बुद्धि को ग्रहण नहीं करते हैं, तो हमारी बुद्धि एकांगी रहती है। किसी भी निश्चय पर पहुँचने के पूर्व, निर्णय करने के पूर्व सामने वाले की सब बात समझना आवश्यक होता है। जल्दी-बाजी न करें।

●●●

: : १३ : :

'येन इष्टं तेन गम्यताम्'

सम्प्रदाय–परम्परा में एक क्रम स्वीकार करना पड़ता है। हम खुलेआम यह बात कहते हैं कि यदि आपको शून्य देखना हो तो बौद्धमत के अनुसार साधन कीजिये। यदि आपको बढ़ने–घटने वाली चेतन इकाई का आत्मरूप से दर्शन करना हो, तो आप जैन–दर्शन के अनुसार साधना कीजिये। यदि आपको अन्यरूप से परमेश्वर का अनुभव करना हो, तो उपासकों के मत के अनुसार साधना कीजिये। न किसी साधन–पद्धति से हमारा वैर–विरोध है और न तो हम यह कहते हैं कि उस साधन से फल नहीं मिलेगा। वह साधन करोगे तो फल मिलेगा। साधन भी ठीक है। लेकिन, एक है–आत्मा और ब्रह्म की स्वतः सिद्ध एकता का अनुभव। आप अपने आत्मा को अद्वितीय ब्रह्म के रूप में अनुभव करना चाहते हैं? हैं जिज्ञासु? तो भई, ऐसा होए तो आओ! यदि आत्मा और ब्रह्म की साध्य–एकता नहीं सिद्ध–एकता का अनुभव करना चाहते हैं, तो आप वेदान्त में प्रवेश कीजिये। साध्य–एकता तो बिना वेदान्त के भी हो जायेगी। कैसे?

नींद में आप अद्वैत रहते हैं कि नहीं? समाधि में भी आप अद्वैत ही रहेंगे। पर नींद और समाधि से उठने के बाद वही दोस्त, वही दुश्मन; वही नारी और नर– सब पहले वाली दुनिया आ जायेगी। समाधि में द्वैत का भान नहीं होता– और निद्रा में भी द्वैत का भान नहीं होता– यह ठीक है। तुम अपने को असंगद्रष्टा के रूप में अनुभव करो–द्वैत का भान नहीं होगा। शून्य के रूप में अनुभव करो, द्वैत का भान नहीं होगा। परन्तु वेदान्त जो सिद्ध–अद्वैत का सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सर्व अवस्था में रहने वाली वह अनुभूति, जिसका कभी लोप नहीं होता, उसका वर्णन करता है। यदि आपके मन में ईश्वर कृपा से उसको पाने की इच्छा हो गयी और उसकी जिज्ञासा हो गयी, तो वेदान्त के सिवाय इस सत्य को पाने के लिये दूसरा

कोई मार्ग नहीं है। यह सुषुप्तिवाली एकता नहीं, समाधि वाली एकता नहीं–सिद्ध एकता का वर्णन करता है। मार रहे हैं लक्ष्य पर तीर! और, तीर फेंकने वाले अन्त:करण से अवच्छिन्न जो चैतन्य है, वही है और जिसके ऊपर तीर फेंका जा रहा है– उस लक्ष्य से अवच्छिन्न चैतन्य भी वही है और कहें, बाण से अवच्छिन्न चैतन्य भी वही है और गति से अवच्छिन्न चैतन्य भी वही है। यह मरने के बाद के लिये नहीं है। यह अभी इसी जन्म के लिये है। जिसमें जन्म और मृत्यु का ही लोप हो जाता है।

हाँ, आप वैकुण्ठनाथ का दर्शन करना चाहते हों तो आप भक्ति कीजिये। वेदान्त में आने की कोई जरूरत नहीं। आप सबको छोड़कर अपने स्वरूप में बैठ जाइये, देखते रहिये! तो, **'येन इष्टं तेन गम्यताम्'।**

: : १४ : :

प्रार्थना कैसे करें? - १

आप मौन होकर ईश्वर से प्रार्थना कीजिये। मौन होकर प्रार्थना करने का क्या अर्थ होता है? अब मैं चुप होता हूँ, तुम देखा लो। जैसे डॉक्टर कोई जाँच-वाँच करने लगे-तो चुप-चाप शान्त होकर पड़ जाते हैं कि यह हमारी धड़कन देख ले, हमारी नाड़ी देख ले, हमारे फेफड़े देख ले। वैसे ही ईश्वर के सामने बिलकुल शान्त हो जाना, चुप हो जाना, मूक-प्रार्थना-मौन-प्रार्थना जब हम चुप हो जाते हैं, तब ईश्वर बोलता है। जब हम निर्वासन होते हैं, तब हमारे हृदय में ईश्वर के संकल्प प्रकट होते हैं। जब हम शक्ति का अहंकार छोड़ देते हैं, तब ईश्वर की शक्ति हमारे अन्दर क्रियाशील होने लगती है। जब जीवत्व का अभिमान टूट जाता है, तब ईश्वरत्व हमारे जीवन में प्रकट हो जाता है। जब तक अहम्-भाव की प्रबलता रहती है- जीवन में दिव्यता नहीं आती है।

निर्वासनता यह मोटी चीज है, नि:संकल्पता, निर्विषयता, निर्वृत्तिकता-ये निरोध के कई अंग होते हैं। जहाँ हम चुप, हमारा दिल चुप, वहाँ ईश्वर बात करने लगता है। वह कब बोले? आप उसे बोलने का मौका कब देते हैं? जब हम देखते हैं कि दो आदमी बैठकर परस्पर बातचीत कर रहे हैं, तो हम चुप रहने में ही तो अपनी भलाई समझते हैं। जब आप बोलते-पर-बोलते, बोलते-पर-बोलते जा रहे हैं तो ईश्वर बेचारे को बोलने का मौका ही नहीं देते आप। वह तो भलामानुस है, अपनी जबान बंद करके रखता है।

इसी को बोलते हैं, निर्वासन होना, नि:संकल्प होना, निर्विषय होना, निर्वृत्तिक होना, शान्त होना। आपका दिल जब शान्त होगा, तो उसमें ईश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ेगा। उसमें ईश्वर की आवाज सुनाई पड़ेगी। इसलिये, मनका मौन ईश्वर की आवाज सुनने का स्थान है।

अच्छा, आप ईश्वर से बोलिये अथवा ईश्वर से मौन रहिये। ईश्वर से बोलिये तो कैसा बोलिये? सबसे बढ़िया यह है कि आप ईश्वर से ईश्वर के बारे में ही बातचीत कीजिये।

तो आपको यह सुनाता हूँ कि आप ईश्वर से बात कीजिये। ईश्वर से कहिये कि महाराज! मैंने सुना है कि आप निर्गुण हैं, आप सगुण हैं। तो आप भला एक साथ ही सगुण-निर्गुण कैसे रहते हैं? आपको ईसाई, मुसलमान निराकार कहते हैं और ये सनातनी, हिन्दू साकार कहते हैं। तो आप दोनों हैं या दोनों में से एक हैं? या दोनों से निराले हैं? जरा पूछिये उनसे। आप ईश्वर से जब बात कीजिये, तब ईश्वर के बारे में बात कीजिये। मैंने सुना है कि आपके स्वभाव में दया है- 'प्रभु मूरति कृपामयी है'। तो आप दुष्टों पर भी कैसे कृपा करते हैं? आप जरा अपनी कृपा की रीति तो बताइये कि आपका अनुग्रह कैसे बरसता है? ईश्वर से बात ईश्वर के बारे में कीजिये।

'गृहेषु कूट धर्मेषु'

संसार का व्यवहार ऐसा चलता है, जिसमें किसी-न-किसी से कुछ-न-कुछ छिपाना ही पड़ता है। इसका अर्थ है कि हमारे हृदय में कहीं-न-कहीं अविश्वास की एक मात्रा बनी रहती है। दुनिया में हम किसी से पूरी बात नहीं बता सकते। हमलोग संसार के इस बात का रहस्य समझते हैं। हमसे कोई बातचीत में कितनी भी लीपापोती करे, हम जानते हैं कि इसका दिल पूरा खुला है कि आधा खुला है। आप देखो, दुनिया में किसी से अपनी पूरी बात नहीं बता सकते हो। यह मजबूरी है। आपके दिल की मजबूरी है, कुछ शिष्टाचार है, कुछ संस्कार है, कुछ विकार है। कुछ ईमानदारी है, कुछ बेईमानी है, कुछ सभ्यता है। परन्तु, आप ईश्वर से बात करो तो वहाँ दूसरे के जानने का कोई डर नहीं।

●●●

: : १५ : :

प्रार्थना कैसे करें ? - २

वेदों में प्रार्थना के बहुत अधिक मन्त्र हैं बल्कि वेद तो प्रार्थनाओं से भरे हुए हैं-

भद्रं नो अपि वातय मनः।

(ऋग्वेद 10.20.1)

'हे प्रभु, मेरे मन को कल्याण से भर दो। मैं असत् में फँसा हूँ, विनश्वर में फँसा हूँ, आप मुझे सत् का अनुभव कराओ। हे प्रभु, अज्ञान के अँधेरे में भटक रहा हूँ, मुझे ज्ञान का प्रकाश दिखा दो। हे प्रभु, मैं दुःख से व्याकुल हो रहा हूँ, मुझे अमृत का आस्वादन करा दो। हे प्रभु, मैं आपको नहीं देख सकता, आप मुझे अपने सत्-स्वरूप का साक्षात्कार करा दो, मेरे सामने प्रकट हो जाओ।'

इस तरह जब यह प्रार्थना की धारा हृदय में बहने लगती है, तब एक दिव्य रसायन हमारे हृदय में प्रकट होता है। प्रार्थना के जो शब्द होते हैं, वे धक्का दे-देकर हमारे सोते हुए रग-रग को हमारे रक्त को, हमारे प्राण को, हमारी शक्तियों को और हमारी प्रवृत्तियों को जगाते हैं। इनमें बड़ी शक्ति होती है और प्रार्थनामयी वृत्ति प्रवाहित होने लगती है, तब हमारे मन में भरे हुए कलुष को बाहर निकालकर उसे शुद्ध कर देती है और हमारे मन के भीतर छिपी हुई पवित्रता को प्रकट करती है, हमारे मन को परमात्मा के सम्मुख करती है और हमें परमात्मा से मिलाती है।

प्रार्थना में बहुत बड़ी शक्ति है। यहाँ तक कि उसमें विशुद्ध प्रज्ञा, जो सत्य का परमार्थ स्वरूप है, वह भी प्रकट करने की शक्ति है। इसलिए जो लोग प्रार्थना की शक्ति को नहीं समझते हैं, उससे वंचित हैं, वे अपने जीवन में बहुत हानि उठा रहे हैं। प्रार्थना से आपको जो चाहिए सो मिल सकता है।

यहाँ तक कि आपके स्वरूप में जो सत्य है, जो ज्ञान है, जो आनन्द है, जो अखण्डता है, जो अद्वितीयता है, ये भी प्रार्थना से प्रकट हो सकते हैं। प्रार्थना जीवन के विकास का, उसके उन्मेष का, उसकी शक्तियों के उद्रेक का, उसकी प्रज्ञा के उल्लास का एक परम कारण है, इसलिए प्रार्थना हमारे जीवन में अवश्य ही रहनी चाहिए।

प्रार्थनाओं को भक्ति का एक अंग कहा जा सकता है। क्योंकि भक्ति में प्यास होती है और जब तक प्यास होती है, तब तक प्रार्थना होती है। परन्तु जहाँ तृप्ति होती है, वहाँ बोलती बंद हो जाती है और वहाँ मनोवृत्तियाँ भी शान्त हो जाती हैं। भक्ति रसात्मक है और इसमें इतनी रसानुभूति है, अपने अन्तर का इतना स्वाद है, अपने इष्टदेव का इतना स्वाद है कि आप अपने आपको ही भूल जाते हैं और उसमें इतने सराबोर हो जाते हैं, डूब जाते हैं। तो भक्ति को केवल प्रार्थना तक ही सीमित मत रखिये। यह एक भगवन्मयी वृत्ति है। रसरूप: परमात्मा-परमात्मा रसस्वरूप है और,

सा परानुरक्तिः ईश्वरे।

(शण्डिल्य सूत्र 1.1.2)

भक्ति अर्थात् परमात्मा में परम अनुराग है। आपके मन के सामने दो चीजें रखीं हैं-एक ओर जड़ खेल-खिलौने हैं और दूसरी ओर सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं। तो भक्ति आपको खेल-खिलाने की ओर से उठाकर ले जाती है और भगवान् से मिला देती है। जीव और ईश्वर के बीच में भक्ति ही ऐसी कड़ी है जो जीव को ईश्वर से मिलाती है। जैसे झूले में झूलता आदमी कभी ऊपर और कभी नीचे होता है, वैसे ही यह भक्ति भी आदमी को भगवान् के साथ झूला-झुलाती है- 'व्रजनाथ झुलाऊँ सारी रैन' कभी मिलाती है तो कभी बिछुड़ाती है, कभी संयोग का रस देती है तो कभी वियोग का रस देती है और इस तरह फिर यह संयोग और वियोग का रस स्वयं विकसित, उल्लसित होने लगता है और तब उसमें किसी प्रार्थना की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

इस तरह देखते हैं कि जहाँ तक परमात्मा की अनुभूति का प्रश्न है, भक्ति सर्वोत्तम है–

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८.५५)

भक्ति से भगवान् की पहचान होती है कि भगवान् कितने बड़े हैं और भगवान् क्या हैं और जब तत्त्वतः भगवान् का ज्ञान हो जाता है, तब यह आत्मा परमात्मा से अलग नहीं रहता है। भक्ति के कई अंग होते हैं और उसके एक अंग को प्रार्थना कहते हैं।

: : १६ : :

तुम तो भगवान् को देखकर आ रहे हो!

श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज ने एक बात बहुत बढ़िया बतायी थी। उनके पास आने से पहले यह बात हमको मालूम नहीं थी और ध्यान में भी नहीं थी। वह क्या थी? वे कहते थे कि तुम यह मत सोचो कि इस मूर्ति में भगवान् हैं! बोले कि पीपल में भगवान् रहते हैं। मन्दिर में जो श्रीकृष्ण की मूर्ति है- उसमें भगवान् हैं। तो वे बोले, 'बाबा, जरा दर्शन का आश्रय लो! जैसे, किसी पेटी में, संदूक में हीरा रखा जाता है वैसे किसी मंजूषा में भगवान् बन्द नहीं होते!' तब क्या है? बोले कि भगवान् की मंजूषा भी भगवान् है! हमारा हृदय भगवान् के रहने का महल है।

शैव लोग बोलते हैं 'अनचकमहलम्।' हम तो महल-महल देखकर उस महल के चक्कर में पड़ गये। जब अर्थ का विचार किया तो निकला 'अनचक, अहलम्।' 'अच्' प्रत्याहार के अन्दर जितने वर्ण हैं और 'हल्' प्रत्याहार के अन्दर जितने वर्ण हैं माने समग्र स्वर वर्ण और उनसे जितने पद बनते हैं, उन पदों से जितने वाक्य बनते हैं, उन वाक्यों से जितने शास्त्र बनते हैं। स्वयं परमात्मा कैसा? न 'अच्' न 'हल'।' अब बाकी क्या बचा?

तो, यह जो परमेश्वर है, यह निर्गुण से सगुण हुआ नहीं है; यह निराकार से साकार हुआ नहीं है। यह तो भगवान् का साक्षात् स्वरूप है। बोले कि यदि ऐसा मानोगे कि शालग्राम की बटिया में भगवान् हैं; तो भगवान् तो सड़क के पत्थर में भी हैं, बाथरूम के पत्थर में भी हैं, पहाड़ के पत्थर में भी हैं, नदी के पत्थर में हैं-भगवान् तो सब में हैं; तो तुम्हारे शालग्राम में विशेष बात क्या होगी? देखो, शालग्राम में विशेष बात यह है कि तुमने यह जाना है कि सब भगवान् हैं, भगवान् के सिवाय और कोई नहीं है।

हम एक बार अयोध्या जी गये थे। तो, जैसे लोग मचलते हैं कि हमको भगवान् से मिला दो; वैसे-ही हम भी एक सन्त के पास गये और मचल गये कि हमको भगवान् का दर्शन करा दो! वे बोले कि कहाँ से आ रहे हो? मैंने बताया कि कनक-भवन से आ रहा हूँ। बोले कि कनक-भवन से आ रहे हो और फिर हमसे कहते हो कि भगवान् का दर्शन करा दो! लाखों आदमी जिसको भगवान् मानते हैं, हजारों आदमी श्रद्धा से जिसकी पूजा करते हैं और सैकड़ों आदमी जिसको अपना हृदयेश्वर, सर्वस्व मानकर अपना जीवन जिसके प्रति अर्पण किये हुये हैं – वहाँ से तुम आ रहे हो और अभी तुमको भगवान् का दर्शन नहीं हुआ? अरे भाई, भगवान् का दर्शन तब होगा जब तुम्हारा हृदय अनुभव करेगा कि भगवान् का दर्शन हो गया। तुम तो बिलकुल भगवान् को देखकर आ रहे हो। अब हमसे और कौन-से भगवान् का दर्शन कराने को कहते हो! चार गाली सुना दी!

स्वयं भगवान् के शरीर में न तो कोई रंग-रोगन है, पच्चीकारी नहीं है और उनकी जो शकल-सूरत है, वह किसी की बनायी हुई नहीं है और स्वयं भी बनी हुई नहीं है। तब क्या है? वह तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है।

●●●

: : १७ : :

यह है परमेश्वर!

आओ! ईश्वर से जान-पहचान करें। पहचान जाओगे तो नींद में, समाधि में, व्यवहार में- जहाँ रहोगे वहीं-वहीं वह है-

'सोवत बैठत पड़े उताने, कहे कबीर हम वही ठिकाने'

फिर कहीं कोई गड़बड़ होगी ही नहीं। हर जगह, हर हालत में ईश्वर मिलेगा। और, यह पहचान कराने के लिये, तदाकार वृत्ति उत्पन्न करने के लिये वचन की जरूरत है और वक्ता की जरूरत है क्योंकि, पुराने संस्कार से यह काम नहीं हो सकता। अगर पुराना ज्ञान, पुराना अनुभव हो गया होता तो आज इस हालत में तुम होते ही नहीं। अब तक तो ज्ञान और संस्कार हुआ नहीं और जिस दिन ज्ञान होगा, उस दिन तुम स्वयं परमात्मा से एक हो जाओगे, संस्कारी रहोगे नहीं। संस्कार कट जायेगा। इसलिये महात्मा, शास्त्र, सद्-सम्प्रदाय, सत्संग-इसके द्वारा ईश्वर मिलाया नहीं जाता। मिले हुए ईश्वर की पहचान करायी जाती है कि यह रहा ईश्वर! यह न हिमालय की गुफा में होगा, न समाधि की गुफा में होगा, न निद्रा में होगा, न कैवल्य से होगा। यह पहचान कराने के लिये हमें वेदान्त की जरूरत पड़ती है।

अच्छा, भगवान् ने अर्जुन को ऐसे क्यों नहीं कह दिया कि तुम आँखें बंद करके बैठ जाओ। मैं तुम्हारे ऊपर शक्तिपात करता हूँ! हो जायेगा ज्ञान! वह ज्ञान जो भगवान् का दिया हुआ है, वह जब भगवान् चाहेंगे लौटा लेंगे और उनके उपदेश से जो ज्ञान होगा, उसको भगवान् लौटा नहीं सकते। यह विचित्र बात है। जो तीर छूट गया, वह नहीं लौटता है। इसी से भगवान् भी भक्त को शब्दोच्चारण पूर्वक वृत्ति उत्पन्न करते हैं। भगवान् ने यह नहीं कहा कि एक मुट्ठी भभूत तेरे ऊपर बरसा देता हूँ जा तू सिद्ध हो जा।

अच्छा, देखो ईश्वर कहाँ रहता है? एक तो है हमारी बुद्धि और एक हैं हम। हमारे सामने और बुद्धि के पीछे माने हमारे और हमारी बुद्धि के बीच में सर्वजगत् नियन्ता अन्तर्यामी बैठा हुआ है और सर्व की उपाधि से वह अन्तर्यामी है और जब सर्व का अपवाद या बाध कर देते हैं तो अन्तर्यामी बिलकुल अपना आत्मा ही होता है। जब उसको नियमन करने के लिये दूसरा कोई नहीं है तो हमसे अलग अपने आपको वह दिखाता नहीं। परन्तु, पहचान तो करनी पड़ती है न!

अच्छा, एक और आसान बात आपको सुनाकर, तब आगे बढ़ते हैं।

हमने एक महात्मा से पूछा कि ईश्वर कैसे मिलेगा? महात्मा बोले कि ईश्वर कैसे मिले, ईश्वर कैसे मिले, ईश्वर कैसे मिले- यह प्रश्न तुम्हारे अंत:करण में कितनी देर रहता है? एक ने बताया कि ईश्वर के लिये दौड़ो, ईश्वर मिलेगा। बैठो ईश्वर के लिये, मिलेगा। सो जाओ ईश्वर के लिये, मिलेगा। बोलो ईश्वर के लिये, मिलेगा। मौन हो जाओ ईश्वर के लिये, मिलेगा। बेटा के लिये सब करेंगे, पैसा कमाने के लिये सब करेंगे, इज्जत बढ़ाने के लिये सब करेंगे, देह को सुख पहुँचाने के लिये सब करेंगे और ईश्वर के लिये कुछ भी नहीं करेंगे! ऐसे बेईमान लोगों को ईश्वर नहीं मिला करता। उसके लिये भी थोड़ा हाथ-पाँव पीटना पड़ता है।

'मया ततमिदं सर्वं'-**'ईशावास्यमिदं सर्वं'**-सम्पूर्ण विश्वसृष्टि परमात्मा से पूर्ण है। गुफा में रहने वालों के लिये बाहर भगवान् नहीं होता। यदि बाहर भगवान् है तो गुफा में जाने की जरूरत ही क्या? और, यदि गुफा में ही भगवान् है तो बाहर निकलने की जरूरत ही क्या? और, यदि भगवान् बाहर भी है, भीतर भी है तो एक बार पहचान लो! सब जगह वही है।

यहीं कहुँ स्याम काहु कुंज में फिरत होइहैं।
भुज भरि भेंटिबेको हिय उमहत है॥

उनसे मिलने के लिये हमारा हृदय व्याकुल हो रहा है।

यह कितनी विडम्बना है कि परमात्मा अभी हो, यहीं हो, यही हो और हम उसके विरह में व्याकुल होकर दर-दर छोटी चीजों के लिये भटक रहे हों और दु:खी हो रहे हों! परमेश्वर माने सच्चा जीवन। परमेश्वर माने सच्चा ज्ञान। परमेश्वर माने सच्चा आनन्द। परमेश्वर माने सच्ची पूर्णता।

आप ईश्वर को पहचानते हैं? यहीं है, अभी है, यही है। केवल पहचानने भर की देर है। तिल की ओट में पहाड़ छिपा है। सद्‌गुरु की एक चोट में पर्दा फट जाता है और परमेश्वर-ही-परमेश्वर।

वृन्दावन की कुञ्जगली में, नाचत नन्दकिशोर।

यह है परमेश्वर।

: : १८ : :

पहचानने भर की देरी है

भक्तलोग ईश्वर को अप्राप्त नहीं मानते। हम यह बात बहुत दावे के साथ बोलते हैं कि कोई भी आचार्य ईश्वर को अप्राप्त नहीं मानते। ईश्वर नित्य-प्राप्त है। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, शैव, शाक्त, गाणपत्य-सबके मत में ईश्वर नित्य प्राप्त है माने हमेशा मिला हुआ है; हाजरा-हजूर है। ईश्वर न निकट न दूर है। तो, अद्वैती कहते हैं कि न पहचानने के कारण अनमिला है और प्रेमी लोग कहते हैं कि तुम्हारा प्रेम औरों से हो गया है, इसलिये अनमिला है। वह तुम्हारे साथ रहकर देखता है कि तुम्हारा प्रेम किससे है? तुम्हारा प्रेम किसी और से हो गया तो वह छिप गया। जो दूसरे से प्रेम करता है, उससे वह मिलना पसन्द नहीं करता। यूँ रहता है वहीं, परन्तु छिपकर रहता है। यह भक्ति का सिद्धान्त है। यहाँ इसे विस्मृति बोलते हैं, अभक्ति बोलते हैं।

किसी-किसी का कहना है तुम्हारे हृदय में प्रेम भक्ति नहीं है, इसलिये भगवान् यहाँ होने पर भी नहीं दीख रहा है। किसी-किसी का कहना है कि तुम उसको भूल गये हो, विस्मरण हो गया है, इसलिये वह तुमको नहीं मिल रहा है। परन्तु, है यहीं। अभी है- इसी समय और यहीं है- दूर नहीं, इसी स्थान में है और इसी रूप में है, परन्तु तुम उसको पहचानते नहीं हो। यह भक्ति का सिद्धान्त है।

'गोविन्द लीलामृत' में एक कथा है कि एक दिन राधा और कृष्ण दोनों, नित्य-निकुंज में विराजमान थे। एक भौंरा राधारानी के ऊपर आ गया। काला-काला था, उसकी कमर में भी एक पीली लकीर थी। सो राधाजी डरीं और डरकर श्रीकृष्ण के साथ लिपट गयीं। श्रीकृष्ण को बड़ा आनन्द आया। उन्होंने कहा कि अरे भौंरा और पास आ जा! अब तो प्रियाजी और डर गयीं तो श्रीकृष्ण के मन में आया कि ज्यादा डराना ठीक नहीं है। उन्होंने संस्कृत भाषा में कह दिया कि मधुसूदन चला गया।

मधुसूदन माने भँवरा और मधुसूदन माने कृष्ण। सो मधुसूदन शब्द का श्रवण करते ही श्रीराधारानी को यह प्रतीत हुआ कि श्रीकृष्ण चले गये। डरके मारे तो उन्होंने आँख पहले ही बन्द कर ली थी। हा-कृष्ण! हा-कृष्ण! करके वे बेहोश हो गयीं और धरती पर गिर गयीं। श्यामसुन्दर ने झट उनको गोद में उठाया और बार-बार होश में लाने की कोशिश करें। परन्तु, वे तो हा-कृष्ण! हा-कृष्ण! करती रहीं। श्रीराधारानी का यह प्रेम देखकर भगवान् श्रीकृष्ण के मन में प्रेम उमड़ा। सो हा-राधे! हा-राधे! करते उनकी आँख बन्द हो गयीं और मालूम हुआ कि राधारानी चली गयीं। अब राधारानी को होश आया और आश्चर्य में पड़ गयीं कि अरे, हमारे रहते इनकी यह दशा! तो यह क्या हुआ? दोनों का संयोग है। परन्तु, प्रेम की अधिकता के कारण वियोग की स्फूर्ति हो गयी। यह मिलन में विरह मालूम पड़ रहा है।

तो, जब नित्य-निकुंज में भी भ्रम से विरह का भान हो जाता है, तो इस ब्रह्ममयी सृष्टि में जो ब्रह्म से वियोग है वह भ्रम के कारण है। हमारी बुद्धि में यह जो भ्रम हो गया है कि परमेश्वर कहीं और चला गया, कहीं और मिलेगा, किसी और रूप में है और सच पूछो तो उस परमेश्वर के विरह की स्फूर्ति होने के कारण हम व्याकुल हो रहे हैं। अत: पहचान होना बड़ा जरूरी है।

हम एक महात्मा के पास गये। मैंने उनसे कहा कि महाराज, ईश्वर से मिला दो। तो बोले कि भलेमानुस, लाखों रूपों में तो तुम रोज ईश्वर का दर्शन करते हो, हजारों रूपों में ईश्वर तुम्हारा परिचित है। सैकड़ों रूपों में ईश्वर से तुम्हारी घनिष्ठता है और कई रूपों में तो वह तुम्हारा अत्यन्त आत्मीय है। परन्तु, जब तुम उसको पहचानते ही नहीं हो तो उसके मिलने का मजा कैसे आवे!

ईश्वर कहीं गया तो है नहीं। भूत हुआ नहीं। ईश्वर का कहीं भूत होता है? कोई दूसरा हुआ नहीं। हमको मिलता है, परन्तु हम उसको पहचान नहीं पाते हैं। तो! ईश्वर को नहीं बनाना है, बुलाना भी नहीं है, इंतजार भी नहीं करनी है। सिर्फ पहचान लेना है कि ईश्वर क्या है?

●●●

: : १९ : :

उपासना

देखो, तीन प्रकार से उपासना होती है। क्योंकि, उपासना में प्रत्यक्ष ईश्वर नहीं रहता है। उपासना कहते ही उसको हैं जिसकी उपासना की जाये, वह प्रत्यक्ष रूप से प्रकट न हो। तो कहाँ करोगे? योगी लोग कहते हैं कि हम पाँच मिनट का काल खाली कर देंगे। उसमें और किसी वस्तु का ध्यान नहीं करेंगे, चिन्तन ही नहीं करेंगे। तो वह जो खाली काल होगा, वह ईश्वर में स्थिति होगी। उपासक लोग कहते हैं कि पाँच कोस का वृन्दावन दिव्य है। कोई शालग्राम शिला की उपासना करते हैं। तो द्रव्य में भगवान् की उपासना शालग्राम, नर्मदेश्वर आदि की उपासना है और काल में भगवान् की उपासना- निर्विषय, सविषय के भेद से दो प्रकार की हैं- (१) समाधिकाल में परमात्मा की उपासना, (२) एकादशीकाल में परमात्मा की उपासना। वैकुण्ठ-देश में परमात्मा की उपासना और हृदय-देश में परमात्मा की उपासना और मन्दिर-देश में परमात्मा की उपासना। जो देशातीत है उसकी देश में उपासना, जो कालातीत है उसकी काल में उपासना और जो द्रव्यातीत है उसकी द्रव्य में उपासना। उपासना जब प्रतीकात्मक होगी तो उससे भिन्न में ही तो होगी। वह मिल जाये तब न उसकी उपासना करें! और, मिलने पर अपना आपा होता है वह! ईश्वर की यही विशेषता है कि मिलने पर वह अपने से जुदा नहीं हो सकता। क्योंकि, मैं भी देशकाल-वस्तु का साक्षी, देशातीत, कालातीत, द्रव्यातीत हूँ और ईश्वर भी देशकाल-वस्तु से अतीत उनका साक्षी चैतन्य है। इसलिए साक्षी-साक्षी में चेतन-चेतन में भेद नहीं होता। तो जब ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है तब तो वह अपने से अलग रहता ही नहीं। और, जब तक उसकी उपासना होती है, तब तक चैतन्य से अलग में चैतन्य की भावना के द्वारा ही उपासना होगी। इसलिए देश-प्रधान उपासना भक्ति है, काल-प्रधान उपासना योग है और द्रव्य

प्रधान उपासना धर्म है और तीनों की उपासना प्रेमाभक्ति है। प्रेमलक्षणा भक्ति में देश, काल और द्रव्य- तीनों के रूप में भगवान् की उपासना होती है।

नारायण कहो! कई लोगों को 'अहं ब्रह्म', 'अहं ब्रह्म' का ऐसा अभ्यास हो जाता है कि दूसरी बात सुनना पसन्द ही नहीं करते हैं। देखो, जिज्ञासा में शर्त नहीं लगानी चाहिए। अगर आप ईश्वर की खोज कर रहे हो और सच्ची खोज कर रहे हो तो यह शर्म मत करो कि हम ईश्वर को खोजने के लिए इस कोने में नहीं जायेंगे। हम ईश्वर को खोजने के लिए इस समय में नहीं जायेंगे। ईश्वर को खोजने के लिए हम इस वस्तु को नहीं लेंगे। अगर आप ऐसी शर्त लगाते हो तो आप खोजी नहीं हो! आप जिज्ञासु नहीं हो! आप जिद्दी हो। आप आग्रही हो। आप ईश्वर को ढूँढ़ना चाहते हो तो क्यों नहीं शालग्राम शिला में ढूँढ़ते? क्यों नहीं समाधिकाल मे ढूँढ़ते? क्यों नहीं एकादशी में ढूँढ़ते? क्यों नहीं वृन्दावन में, काशी में, अयोध्या में ढूँढ़ते? आपकी खोज में त्रुटि है। देश, काल, वस्तु को छोड़कर तुम ढूँढ़ोगे तो ढूँढ़ने वाले तुम कहाँ रहोगे? देश, काल वस्तु को छोड़ देने पर तुम्हारा खोजी 'मैं' कहाँ से निकल आवेगा? वहाँ तो खोजी 'मैं' नहीं रहेगा।

यह विचार में जो कतराते हैं, बचने की कोशिश करते हैं- हम यहाँ नहीं ढूँढ़ेंगे, हम वहाँ नहीं ढूँढ़ेंगे! असल में उनकी जिज्ञासा ही मन्द है भला।

जो ईश्वर का है, ईश्वर की सेवा में लगे। यह ईश्वर के अलगाव का सदुपयोग है। यदि हम उसके घर के नहीं हैं तो उसको मेहमान ही बनाकर उसको अपने घर में ले आवें! वह हमारे घर का नहीं हैं तो आओ एक दिन पार्टी देकर उसको अपने घर में निमन्त्रित ही करें। मजा लें उसका।

●●●

: : २० : :

कृपा की पहचान आवश्यक

मूल बात यह है कि भगवान् की कृपा से अगर परमात्मा मिलता है तो वह कृपा सब पर होनी चाहिए क्योंकि भगवान् के सब हैं और सब भगवान् के स्वरूप हैं, भगवान् के अंश हैं और जब सब प्रतिबिम्ब, आभास ही हैं तो परमात्मा किसी को मिले, किसी को न मिले, यह भेद-भाव परमात्मा में कैसे होगा? वह किसी पर कृपा करे, किसी पर कृपा न करे, किससे परमात्मा की दुश्मनी है कि उस पर कृपा न करे और किस पर परमात्मा का पक्षपात है कि उस पर कृपा करे? तो उसके लिए हमारे शास्त्रों में यह व्यवस्था की गयी है कि परमात्मा में वैषम्य-नैर्घृण्य नहीं है। परमात्मा किसी का पक्षपात नहीं कर सकता है और किसी के प्रति क्रूरता, निर्दयता का बर्ताव भी नहीं कर सकता है। जो परमात्मा को हृदय से चाहता है, परमात्मा के सम्मुख होता है, परमात्मा के अनुकूल आचरण करता है- वह परमात्मा की कृपा को समझ सकता है और ग्रहण कर सकता है। और, जिसने अपने हृदय का घड़ा ही उलटकर रखा हुआ है- तो वर्षा तो हो रही है परन्तु चूँकि बर्तन उलटकर रखा हुआ है इसलिए, वर्षा होने पर भी उस पर पानी नहीं जाता है। यदि बर्तन का मुँह ऊपर होता तो वर्षा का पानी उसमें आ जाता। यही बात ईश्वर की कृपा के सम्बन्ध में है- जो सम्मुख हैं वे कृपा को समझ पाते हैं और जो विमुख हैं वे इससे वंचित रह जाते हैं। इसलिए 'आनुकूल्य प्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्था'-जो परमात्मा के अनुकूल आचरण करता है- माने परमात्मा जैसा स्वभाव है, जैसी व्यापकता है; जैसे उसमें सद्‌गुण हैं वैसे सद्‌गुण ग्रहण करके जो परमात्मा के अनुकूल अपना जीवन बनाता है उसके जीवन में परमात्मा की कृपा प्रकट होती है और जो उसके विपरीत अपना जीवन बनाता है उसके ऊपर कृपा होने पर भी, उसके अनुभव में नहीं आती है। आप जानते हैं- सूर्योदय होता है, सूर्य मध्य

आकाश में आता है, सूर्यास्त होता है– पर उल्लू को पता भी नहीं चलता कि कब सूर्योदय हुआ, कब मध्याह्न हुआ और कब सूर्यास्त हुआ– उसको तो केवल रात्रि में ही दिखता है।

संसार तो एक ही है, परन्तु अज्ञानी को यह संसार दीखता है और ज्ञानी पुरुष को यही साक्षात् परब्रह्म परमात्मा के रूप में दीखता है। संसार में कोई फर्क नहीं है– वह एक है। **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'** (गीता 2.69)। इसलिए परमात्मा की कृपा सब पर होने पर भी जो उसके अनुकूल आचरण करता है, प्रार्थना करता है, उसके लिए उत्कण्ठित होता है, व्याकुल होता है– उसको अनुभव होता है कि भगवान् उसपर कृपा कर रहा है और जो उसके अनुकूल नहीं है, प्रतिकूल है– उसको कृपा भी कृपा मालूम नहीं पड़ती। आप देखते हैं कि आपका किसी से प्रेम हो और वह आपको घूँसा तानकर दिखाये तो आप सोचेंगे कि यह प्रेम से ही ऐसे कर रहा है और जिससे दुश्मनी हो, वह यदि कभी हाथ जोड़े तो भी अपमान लगता है। तो यह हमारे हृदय की ही बात है कि हम कभी किसी क्रिया में कृपा देखते हैं और कभी उसी क्रिया में कृपा नहीं देख पाते हैं।

असल में ईश्वर कृपालु हैं। प्रभुमूर्ति ही कृपामयी है। उनकी ओर से जो आता है, वे जो करते हैं, उनकी दृष्टि में जो होता है, उनके ज्ञान में जो होता है, वह बस कृपा-ही-कृपा होती है। यह जीव सत्संग से वंचित है, ईश्वर से विमुख है और चाहता है कि उसके मन-मन का ही ईश्वर करे, उसकी वासना का गुलाम ईश्वर हो जाये और जैसी उसकी वासना हो वैसा ही ईश्वर करे– तब जब कभी ईश्वर अपने मन की करता है तब उसमें ईश्वर की कृपा मालूम नहीं पड़ती है।

हमारे एक महात्मा थे। वे ऐसा कहते थे जब हमारे मनका काम होता है, तब उसमें शंका रहती है कि यह ईश्वर के मन से हुआ कि मेरी वासना से हुआ। लेकिन जहाँ मेरी वासना नहीं रहती है, वहाँ तो ईश्वर की इच्छा से काम हुआ– यह बात निश्चित ही है। तो हमारी इच्छा पूरी होने पर जितना सुख होता है, उससे अधिक सुख हमको हमारे प्यारे, हमारे प्राणप्रेष्ठ भगवान्

की इच्छा पूरी होने से होना चाहिए। हमें ध्यान में रखना चाहिए कि हमारी इच्छा पूरी नहीं हुई तो क्या हुआ, हमारे प्यारे की इच्छा तो पूरी हुई। इस तरह अपनी इच्छा पूरी न होने में भी अपने प्यारे की इच्छा पूरी होने को देखना और उसमें अधिक प्रसन्न होना– कृपा की अनुभूति है। असल में कृपा की पहचान अपने जीवन में होनी चाहिए।

●●●

: : २१ : :

पूजा किसकी?

वह कौन है जिसकी पूजा की जाती है? स्वयं श्रीकृष्ण बताते हैं '**तमभ्यर्च्य**'-उसकी पूजा! साधु सावधान! लीजिये अवधान! अर्जुन ने कहा, 'महाराज, कुछ समझा नहीं! जरा बताइये कि वह कौन है? बोले कि, '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्**' संसार के सब प्राणी जिसकी वजह से प्रवृत्त होते हैं, अपना-अपना काम करते हैं। जिसकी वजह से '**पृथिवी विश्वस्य धारिणी**'-पृथिवी सबको धारण करती है। जल सबको तृप्ति देता है, सूर्य सबको रोशनी देता है, वायु सबको साँस देती है, आकाश सबको अपने भीतर घूमने-फिरने देता है। '**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां**'।

बोले कि नहीं-नहीं, इतना ही नहीं आपके शरीर के भीतर एक ऐसी चेतन शक्ति विराजमान है, जो आपकी मशीन को घुमाती-फिराती है। उसको बोलते हैं-निमित्त-कारण, अन्तर्यामी। 'यत:' पद का अर्थ है कि जिसको घुमा रहा है-उससे अलग है और घुमा रहा है। तो, किसकी पूजा कर रहे हो? बोले कि हम नहीं जानते बाघ, नहीं जानते बकरी और नहीं जानते आदमी और नहीं जानते चिड़िया! तब? जो सबके दिल में बैठकर सबको नचा रहा है '**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवीं जनयति**'-धरती में रहकर धरती का नियन्त्रण करता है और '**विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानं जनयति**'-हमारे हृदय में रहकर हमारे हृदय को नियंत्रित करता है। ऐसा चुम्बक, जो सबके हृदय में एक-सा रहता है और उसके आकर्षण से, जैसे सब पंखे अलग-अलग चलते हैं वैसे सब शरीर की मशीन अलग-अलग चल रही हैं। '**तमभ्यर्च्य**' उसकी पूजा करो। माने हम जो कर्म करते हैं, उससे सर्वान्तर्यामी की पूजा करो।

अब और आगे बढ़ो! केवल इन मशीनों को नचाने-वाला ही नहीं है, मशीन जिस चीज से बनी है-'**येन सर्वमिदं ततम्**'-इन सब मशीनों को बनाने वाला, नचाने वाला है और वही सब मशीन भी है। वह जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। अद्वैत की दृष्टि से विवर्ती है और विशिष्टाद्वैत की दृष्टि से परिणामी है। बस, है वही। एक है ईश्वर! उसका नाम खुदा रख लो, गॉड रख लो! ईश्वर रखो, ब्रह्म रखो। नाम में कोई झगड़ा नहीं है। वही एक सबको नचा रहा है और वही सब बन रहा है। सब वही हो रहा है। चेतन है तो बनता-सा नजर आ रहा है और थोड़ी माया मिली हुई है तो बन रहा है। उस ईश्वर की पूजा करो-'**येन सर्वमिदं ततम्**'।

: : २२ : :

पूजा कैसे करना

सबको मीठा बोलना। क्योंकि, हम किसी से भी बात करते हैं तो उसके हृदय में रहने वाले ईश्वर से ही बात करते हैं। यह मत समझना कि तुम दुश्मन से बात करते हो! दुश्मन तो एक पर्दा है, एक शकल-सूरत है। उसके भीतर जो एक ईश्वर बैठा हुआ है- हम उसी से बात करते हैं, उसी की बात सुनते हैं; सचमुच उसी को काम करते देखते हैं; उसी को दुनिया के रूप में बदलते हुए देखते हैं। यह सब ईश्वर की रोशनी है, ईश्वर की चमक है। सब में एक ही खुदा का नूर है। उसकी किरणें सबके भीतर चमचम चमक रही हैं। आप जो भी कीजिये, उसका आदर कीजिये। किसी से दुश्मनी मत कीजिये। किसी से नफरत मत कीजिये, राग-द्वेष मत कीजिये। किसी को कड़वा मत बोलिये। अपना दिल बनाकर रखो।

कटुक वचन मत बोल रे, तोको पीय मिलेंगे।

किसी पर अविश्वास मत करो, किसी पर संशय मत करो। वह नहीं बिगड़ेगा, तुम्हारा दिल बिगड़ जायेगा। अपना दिल मत बिगाड़ो!

तो, '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'-अभ्यर्च्य में 'अभि' है, उसका भी एक अर्थ है। 'अभि' माने '**अभितः अर्चित्वा इति अभ्यर्च्य**'-सब जगह उसी की पूजा करो। यदि कोयल की कुहू-कुहू में वह बोल रहा है तो कौए की काँव-काँव में भी वही बोल रहा है। कुतिया की काँय-काँय में वही है। तो, '**येन सर्वमिदं ततम्**'-आप मनुष्य हैं! आप काम कीजिये और काम करते हुये यह देखिये कि सबमें ईश्वर है। इसलिये, पक्षपात मत कीजिये और किसी से दुश्मनी भी मत कीजिये। किसी को सताइये मत। किसी को ठगिये मत। जो भी काम कीजिये, उसकी पूजा के लिये कीजिये। उसी के

सामने सिर झुकाइये। सबके घट में वही रम रहा है–'**अभ्यर्च्य**'। तो फल क्या होगा? बोले कि '**सिद्धिं विन्दति**'।

तो देखो, मनुष्य अपना कर्म करने का अधिकारी है। उसका कर्म ईश्वर की पूजा करने की पद्धति है। अपने कर्म से ही उसकी पूजा होती है और सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण अन्तर्यामी सब मशीनों को चलाने वाला और मशीनों के रूप में बनने वाला वही है। और, यदि इस तरह से तुम ईश्वर की पूजा करोगे तो फल क्या निकलेगा? तुम्हारा अन्त:करण शुद्ध हो जायेगा–'**सिद्धिं विन्दति मानवः**'–'सिद्धि' माने अन्त:करण की शुद्धि।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।

(गीता, १८.५०)

गीता में 'सिद्धि' माने ब्रह्म-प्राप्ति का साधन।

अच्छा, जो ईश्वर कर्म से नहीं मिलता, कर्म के व्यवहार में नहीं आता–वह ईश्वर हमारी दुकान में नहीं आता, हमारे मकान में नहीं आता, हमारे खेत में नहीं आता। वह ईश्वर कहीं पर्दा ओढ़कर एक कोने में बैठा होगा। वह भला किस काम का ईश्वर– जो हमारी दुकान में, मकान में, हमारे खान-पान में, लेन-देन में आने में झिझकता है। हमारे व्यवहार में आ जायेगा तो क्या मर जायेगा? जो लोग ऐसा मानते हैं कि ईश्वर हमारे व्यवहार में आ ही नहीं सकता, वे लोग ईश्वर का कितना बड़ा तिरस्कार करते हैं।

●●●

: : २३ : :

भगवद् - विग्रह

यह भगवान् की मूर्ति कैसी है? जिस मूर्ति का हम ध्यान करते हैं, वह माटी की बनी हुई है? जो मूर्ति हमारे हृदय में दीख रही है- वह माटी की बनी हुई है? हमारे हृदय में माटी कहाँ से घुस गयी? जो मूर्ति हमारे हृदय में दीख रही है- वह हमारे हृदय की बनी हुई है, कम-से-कम इतना तो मानो! यदि वह मूर्ति पत्थर है, तो तुम्हारा हृदय पत्थर है! यदि वह मूर्ति लोहा है, तो तुम्हारा हृदय लोहा है! यदि वह मूर्ति सोना है, तो तुम्हारा हृदय सोना है! अजी, वह तो बिलकुल चिन्मयी मूर्ति है। **'व्यक्ताव्यक्त-विलक्षणः- व्यक्तव्यतिरिक्तः मूर्तिर्यस्य तेन अव्यक्तमूर्तिना मया'।**

अब आप विचार करके देखो कि भगवान् की मूर्ति कैसी? कागज की मूर्ति नहीं होती, रंग की मूर्ति नहीं होती! यह किसी चीज में न गढ़ी गयी है और न खुद प्रकट हुई है। 'अव्यक्त' का मतलब है- न तो इसको किसी ने गढ़ा है और न तो खुद-ब-खुद बन गयी है। तब यह मूर्ति क्या है? बोले, 'अव्यक्त मूर्तिना'-व्यक्त से विलक्षण है यह भगवान् की मूर्ति!

अब देखो इस बात को गीता में पकड़ते हैं कि वहाँ इसकी कितनी इज्जत की गयी है! भगवान् ने कहा,

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

(गीता, ९/११-१२)

बोले कि हमको मनुष्य के रूप में देखकर मूर्खलोग मेरा तिरस्कार करते हैं कि यह ब्रह्म नहीं है, यह भगवान् नहीं है, यह परमेश्वर नहीं है।

क्यों? **'परं भावमजानन्तः'**। इस मनुष्याकार शरीर में साक्षात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही परिपूर्ण है- इस बात को वे लोग नहीं जानते हैं। वे कहीं कुरान-शरीफ सुनकर आये होंगे कि ईश्वर के शरीर नहीं होता! उन्होंने सत्यार्थप्रकाश पढ़ा होगा! यह सब हो सकता है! परन्तु, मैं स्वयं मनुष्य रूप में आया हूँ और तुम मेरा तिरस्कार करते हो कि यह पंचभूत का जैसा मनुष्य का शरीर होता है, वैसा ही भगवान् का है। भगवान् की मूर्ति सच्चिदानन्दघन है- इस बात को वे नहीं जानते हैं।

अच्छा, ऐसे लोगों को भगवान् ने आगे के श्लोक में गाली भी दी है।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

अच्छा, और लो-

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

(गीता, ७/२४)

भगवान् कहते हैं कि मैं स्वयं अव्यक्त हूँ। 'व्यक्त' का मतलब यह होता है- जिसमें बाहर से रंग-रोगन किया जाये। तो, क्या यह जो भगवान् के शरीर में रंग है- वह किसी दूसरे कलाकार ने कूँची से रंग किया है? कौन है वह कलाकार, जो श्रीकृष्ण के शरीर में रंग चढ़ावे? तब क्या खुद-ब-खुद काले हो गये हैं? नहीं-नहीं! अच्छा, तब फिर इनकी शक्ल-सूरत किसने गढ़ी? कौन है माँ-बाप? **'न तस्य कश्चिद्जनिता न चाधिपः'**-यह तो बिना माँ-बाप का है। यह देखो, यह परमात्मा का विलक्षण स्वरूप है!

ईश्वर को किसी ने पूछा कि तुम्हारे माँ-बाप कौन हैं? बोले कि तुम्हीं बन जाओ न! इसी से दो-दो माँ कर लीं! बाप भी दो कर लिये। उसका मतलब है कि जिसके पेट से पैदा होते हैं- वही उसके माँ-बाप नहीं हैं। जो उनको अपना बेटा मानता है- वह उनका माँ-बाप है।

●●●

: : २४ : :

श्रीकृष्ण दर्शन!

एक बार मैं ध्यान कर रहा था। आप जानते ही हैं कि हम तो अंटसंट कुछ जानते नहीं हैं। ध्यान में जो शास्त्रीय रूप है- उसके अनुसार ध्यान कर रहे थे। तो, हम ध्यान करने लगे कि प्रलय हो रहा है, धरती डूब रही है, जंगल डूब रहे हैं, गाँव-नगर सब पानी में डूब रहे हैं। एक समुद्र उमड़ रहा है। इसी को मृत्यु के द्वार पर नचिकेता का जाना बोलते हैं। मौत-मौत-मौत! प्रलय-प्रलय-प्रलय! बस, धरती नहीं है, जंगल नहीं है- केवल समुद्र उमड़ रहा है। देखते-देखते हमारा ध्यान वहाँ पहुँचा, जहाँ एक ऊँचे टीले पर एक बड़ का पेड़ बाकी रह जाता है। यह भी देखा कि एक महात्मा जटाधारी, दाढ़ीवाला समुद्र में कभी डूबता और कभी उतराता है। अब मैं उसकी जगह पर हो गया। क्योंकि ध्यान में केवल ईश्वर-ही-ईश्वर नहीं चाहिये, 'मैं' भी चाहिये। तो मैं उसकी जगह पर हो गया और, जब मैंने गौर से देखा तो बड़ के पेड़ के एक पत्ते पर नन्हें-से शिशु के रूप में साँवरे-सलोने बालमुकुन्द शयन कर रहे हैं और अपने पाँव का अँगूठा मुँह में डालकर चूस रहे हैं, किलकिला रहे हैं। अकेले मस्त हो रहे हैं, दूसरा तो कोई है ही नहीं।

अब देखो, उस समय जो ध्यान में घटना घटित हुई- उस पर आपका ध्यान खींचते हैं। देखते-देखते हमारा मन गया कि ईश्वर तो सब जगह रहता है, बड़ में इतने लाखों पत्ते हैं और उनमें-से एक पत्ते पर ईश्वर है- यह बात कैसे? तब मैंने क्या देखा कि बड़ के हर पत्ते पर बालमुकुन्द हैं। एक-एक पत्ते का ऐसा दोना बन गया है और उस पर बालकृष्ण मन्द-मन्द मुस्कुराते हुये अपने पाँव का अँगूठा पी रहे हैं। एक बालमुकुन्द, दस बालमुकुन्द, सौ बालमुकुन्द, हजार बालमुकुन्द, लाख बालमुकुन्द। पत्ते-पत्ते पर बालमुकुन्द! अब मेरे मन में आया कि पत्ते-पत्ते पर कृष्ण हैं। पर ईश्वर

तो सब होता है! तो यह पेड़ क्या है? यह समुद्र क्या है? अब महाराज पेड़, पत्ता, समुद्र-सबका दीखना बन्द होकर जैसे धूल के कण उड़ते हैं ऐसे ही कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, कण-कण में कृष्ण। अणु-अणु में कृष्ण! हवा के झोंके-झोंके में कृष्ण! 'न बड़का पेड़ था, न पत्ता था, न समुद्र था, न पहाड़ था, न दुनियाँ थी'। बस जैसे बवंडर में धूलि के कण उड़ते हैं, वैसे सारी सृष्टि में कृष्ण-कृष्ण! हजार, लाख, करोड़, अनगिनत कृष्ण!

अब देखें, मन क्या बोलता है कि कृष्ण तो एक ही है, यह अनेक कृष्ण कैसे? तो महाराज तुरन्त आकृति का दीखना बन्द हुआ और एक चिन्मय ज्ञान की ज्योति, ज्ञानात्मक प्रकाश रह गया। न समुद्र, न पहाड़, न जंगल, न पेड़, न ऋषि, न अलग-अलग बालमुकुन्द- एक सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन एकमात्र ज्योति; नाम रूप छूट गये! अब फिर प्रश्न उठा कि यह मालूम पड़ रहा है और हमको मालूम पड़ रहा है! तो यह और हम दो कैसे? अब चिद्-ज्योति का चिन्तन हुआ महाराज, कि अरे यह तो आत्म ज्योति ही है और प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्म है। न मैं है, न तू है, न यह है, न वह है! एक परमेश्वर का-'मैं' से अभिन्न परमेश्वर का यह सारा-का-सारा खेल है! थोड़ी देर के बाद फिर वही ज्योति मालूम पड़े और मैं! और फिर मालूम पड़े कि अरबों कृष्ण! फिर मालूम पड़े कि बड़ के पत्ते-पत्ते पर कृष्ण! फिर मालूम पड़े कि एक ही पत्ते पर कृष्ण! और फिर वही समुद्र, वही टीला और वही पेड़ और वही मैं!

तब मैंने यह जाना कि जो समुद्र देखा, पेड़ देखा, ऋषि देखा- वह सब क्या है? वह चिन्मय-ज्योति ही सबके रूप में प्रकट हो रही है और सब उसी में लीन होता है। यह है अद्वितीय परमेश्वर!

●●●

: : २५ : :

राग की पूर्णता = भगवद्-प्रीति

राग के अनेक भाग होते हैं-हम पहले प्रीति का वर्णन करते हैं। आपकी प्रीति कहाँ है माने आपकी तृप्ति कहाँ है? वह कौन-सी वस्तु है जिसको देखकर आपका हृदय नाच उठता है? जैसे बादलों को देखकर मोर नाचने लगता है, क्या वैसे ही कोई वस्तु आपके जीवन में भी है, जिसको देखते ही, जिसका स्मरण आते ही आपका हृदय खिल उठता है, प्रफुल्लित हो जाता है, उसमें एक प्रकार का उल्लास छा जाता है अथवा वह थिरकने लग जाता है, तो आपकी उससे प्रीति है, आपका उससे प्रेम है।

अब देखिये, उसके द्वारा आपके जीवन में क्या परिवर्तन होता है, वह आपके जीवन में क्या प्रणयन करता है? प्रणयन माने निर्माण करने वाली वस्तु। आप जब किसी पर श्रद्धा करते हैं और उससे प्रीति करते हैं तो वह आपके जीवन में कुछ परिवर्तन करता ही है। ठीक वैसे ही जैसे जीवन में हम किसी रसायन का सेवन करते हैं, तब उससे रोग की निवृत्ति होती है और स्वास्थ्य का लाभ होता है। पर रोग-निवृत्ति दूसरी चीज है और स्वास्थ्य का अनुभव, स्वास्थ्य का लाभ दूसरी चीज। इसी तरह जब हमारे हृदय में ईश्वर के प्रति प्रीति आती है तो हमारे जीवन में कुछ परिवर्तन आते हैं- हमारे शरीर के भीतर जो संवेदन तन्तु हैं, उनमें रस का संचार होने लगता है, रक्त में भी विशेषता आ जाती है और हमारे मनोभावों में भी एक विशेष तरह का परिवर्तन हो जाता है और यह सब प्रणयन करता है।

इसके बाद स्नेह आता है। स्नेह माने हमारे भीतर के पोषक-तत्त्व। स्नेह है तो अमूर्त्त-भाव, निराकार-भाव, परन्तु वह जिसके ऊपर होता है, उसको रूप दे ही देता है। यहाँ तक कि भगवान् को भी बालक बनकर हमारे सामने आना पड़ता है। निराकार भगवान्, देश, काल, वस्तु से

अपरिच्छिन्न भगवान् हमारे स्नेह के भीतर प्रतिबिम्बित होकर प्रकट हो जाता है। जैसे शीशे में पहाड़ प्रतिबिम्बित होता है और हमें दिखने लगता है, वैसे ही इतना बड़ा परमात्मा हमारे स्नेह रस में प्रतिबिम्बित होता है और हमें उसके दर्शन होने लगते हैं। जब हमारे जीवन में प्रीति, प्रणय, स्नेह का उदय होता है, तब हमारे चित्त से दोष-दृष्टि सर्वथा निकल जाती है।

प्रीति सर्वदा एकरस रहती है। दोष देखकर प्रीति में क्षय और गुण देखकर वृद्धि का भाव नहीं आता। दूर रहने से प्रीति न घटती है न बढ़ती है और न ही मिलने में देर होने से प्रीति घटती है अथवा बढ़ती है। बल्कि कभी दूसरे की ओर झुकाव हो जाने पर भी प्रीति घटती नहीं है। वह कभी क्षीण नहीं होती, हमेशा एकरस रहने लगती है। प्रीति निर्भयता प्रदान करती है, भय नहीं। और, जब प्रीति स्वयं अखण्ड, अटूट हो जाती है, तब हमारा जीवन भी अटूट हो जाता है। जीवन में सम्पूर्ण दिव्यता लाने के लिए प्रीति की पूर्णता अपेक्षित है। और श्रद्धा के द्वारा, प्रणय के द्वारा, स्नेह के द्वारा, भाव और विभाव के द्वारा, राग और अनुराग के द्वारा-हमारी प्रीति ऐसी कक्षा में पहुँच जाती है, जहाँ पूर्णता के सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं रहती है। इसलिए प्रीति को कोई साधारण प्रीति नहीं समझना चाहिए। जैसे समाधि में केवल सत्ता-ही-सत्ता रहती है और तत्त्वज्ञान मे केवल चित्-ही-चित्, ज्ञान-ही-ज्ञान, वैसे ही प्रीति में केवल आनन्द-ही-आनन्द रहता है। और, आनन्द की दृष्टि से यह पूर्णता, प्रीति और भक्त की पूर्णता है।

●●●

: : २६ : :

परम सत्य

वेदान्त की एक ऐसी ग्रन्थि है जो अपने आप पढ़ने वाले या व्याख्यान सुनने वालों की समझ में नहीं आती। यह वेदान्त की ग्रन्थि क्या है? वेदान्त में उपाधि अनादि है, माया अनादि है, मायोपाधिक ईश्वर अनादि है और कार्योपाधिक जीव अनादि है और ईश्वर-जीव का सम्बन्ध अनादि तथा जगत् अनादि है और शुद्ध-ब्रह्म, वह ब्रह्म भी अनादि है। अरे वेदान्तियो, जब तुम्हारे यहाँ छः अनादि हैं, तब तुम अपने को अद्वैती क्यों कहते हो? बोले कि नहीं, हम षड्वादी नहीं हैं, पर छः अनादि हैं- यह मानते हैं। क्यों? अनादि-अनादि में भी फर्क है। ब्रह्मज्ञान होने पर ब्रह्मातिरिक्त अनादि पदार्थ प्रतीत होते हुए भी मिथ्या हो जाते हैं और शुद्ध चित् जो ब्रह्म है, वह अनादि है और ज्ञान से मिथ्या नहीं होता। वही परमार्थ सत्य है। तो क्या हुआ कि जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो ईश्वर भी भासता है, जीव भी भासता है, माया भी भासती है, जगत् भी भासता है और इनका परस्पर सम्बन्ध भी भासता है। परन्तु सत्य रूप से नहीं भासता है, मिथ्या रूप से भासता है। और, ब्रह्म तो अपना आत्मा ही है। उसका तो कभी अमान होता ही नहीं है। वह तो सबका भासक है, सबका प्रकाशक है। अब फर्क क्या पड़ता है- उसपर ध्यान खींचते हैं।

देखो, जो लोग आत्मा को दुनिया से निराला असंग मानते हैं, उनको जब आत्मा का अनुभव होगा तब दुनिया भासेगी नहीं। माने व्यवहार का लोप हो गया। सांख्य या योग का द्रष्टा, जब समाधि लगाकर अपने स्वरूप में बैठेगा, तब उसको दुनिया का भान नहीं होगा। और, जब वह दुनिया में वृत्ति से तादात्म्यापन्न हो जायेगा तो अपने असंग कैवल्य का अनुभव नहीं होगा। वृत्ति टिकी नहीं। तो, वेदान्त न तो यह कहता है कि ज्ञान हो जाने के बाद संन्यास ही जरूरी है और न यह कहता है कि समाधि ही जरूरी है, न

यह कहता है कि वैकुण्ठ जाना ही जरूरी है; न यह कहता है कि पहाड़ में जाना जरूरी है। वह कहता है कि बाबा, यह माया तो नित्य उपाधि है, किन्तु मिथ्या है और इस उपाधि से ईश्वर भी नित्य है, इसका कार्य भी नित्य है और कार्य की उपाधि से जीव भी नित्य है। इसका सम्बन्ध भी नित्य है। नित्यता दूसरी चीज है और अबाधित सत्य होना दूसरी चीज है। मैं दावे के साथ यह बात कहता हूँ कि अपने आप वेदान्त की किताब पढ़ने वालों को यह बात समझ में नहीं आवेगी! यह बिलकुल सद्‌गुरु की लीला है।

इसका अर्थ हुआ कि भक्त को जो वैकुण्ठ का भान होता है सो भी ठीक है और योगी को जो समाधि का भान होता है, सो भी ठीक है और संसारी को जो प्राकृत प्रपंच का भान होता है, सो भी ठीक है। परन्तु, वे जो इनको सत्य मानते हैं-यह अविद्या है। और, जिसको अद्वैत का अनुभव हो गया है- उसके सामने भी जगत् भास जाये, चमक जाये तो क्या? अरे, यह भी अपनी ही चमक है, अपनी दमक है, अपनी झलक है। यह सृष्टि तो आत्मा रूप हीरे की चिलक है। तो ठीक है-माया भी चिलक, छाया भी चिलक। जीव-ईश्वर भी चिलक और इनका सम्बन्ध भी चिलक। परम सत्य कौन है? वही प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्व परम सत्य है!

'पश्य मे योगमैश्वरं'

●●●

: : २७ : :

जिज्ञासा - समाधान

प्रश्न– कथा श्रवण करते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिये?

महाराजश्री– हाँ भाई, यह भी सीखने की बात है। सबको श्रवण करना नहीं आता है। अब श्रवण करने लगे और माला भी फेरने लगे। अब एक बार मन माला में जायेगा और एक बार कान में जायेगा। यह तो मनकी कसरत हो जायेगी न। इससे तुम थक जाओगे। तब फिर न माला का स्वाद आयेगा और न सुनने का स्वाद आयेगा। और यदि एक जगह मन लगाकर अभ्यास करोगे–जप करते समय प्रेम से जप करो और सुनते समय सुनो–तो दोनों में मजा आयेगा। बिना रस आये मनुष्य अपने मनको कहीं लगा नहीं सकता।

अगर सुनते–सुनते नींद आती हो तो आँख खोलकर वक्ता की ओर देखना चाहिए। और, यदि मन खूब लगता हो और जगता हो तो दोनों आँख बन्द करके भी बैठ जाना चाहिए। सुनते–सुनते ज्यादा हिलना नहीं चाहिए। दूसरे कान में फुस–फुसाकर बात बिलकुल नहीं करनी चाहिए।

एक सन्त के यहाँ सत्संग होता था। तो वहाँ यदि कोई किसी के कान में बात करे तो उससे कह देते थे कि तुम बाहर चले जाओ। क्योंकि तुम सत्संग में अभी कपट कर रहे हो, छिपाने वाली बात कर रहे हो। तो, सत्संग में बैठकर कान में फुस–फुसाहट नहीं करनी चाहिए। एक–दूसरे को देखकर बताना कि देखो, कैसी बढ़िया बात कही है– इसकी भी कोई जरूरत नहीं होती। उसी समय अपनी नफरत भी जाहिर नहीं करनी चाहिए कि ये क्या व्यर्थ बोल रहे हैं। थोड़ा अपने मन को दबा लेना चाहिए। बहुत वाह–वाह भी नहीं करना। बस, अपने चित्त को भगवान् में ले चलना चाहिए। तो, श्रवण की पद्धति होती है।

देखो, श्रवण में ग्रंथ को श्रेष्ठ मानना और वक्ता की ओर देखना और जो बात कही जाय- उसको किसी-न-किसी की भलाई के लिए समझना और अपने मन को जो भगवान् के विषय में श्रवण किया जाय- उधर की ओर ले जाना। कुछ लोग दर्शनशास्त्र की उच्चकोटि की बात समझाते हैं। वे लोग घर-गृहस्थी का दृष्टान्त भी देते हैं। कोई चमार का दृष्टान्त देंगे, कोई खटिक का दृष्टान्त देंगे, कोई घसियारी का दृष्टान्त देंगे। तो, वहाँ-वहाँ अपने मन को ले जाओगे तो उसमें तो मन के सामने बुरे दृश्य आते हैं। वहाँ तो दृष्टान्त से अभिप्राय जो निकाला जाय- उसपर ही दृष्टि जानी चाहिए। लेकिन जो भगवद् कथा होती है-श्यामसुन्दर, मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी की कथा होती है- उसमें अपने मन को ले जाकर प्रेम के रस में डुबो देना चाहिए। अतः श्रवण कैसे करना- यह भी सीखना चाहिए।

श्रवण में एक बात और सीखने की है, वह बड़ी विलक्षण है। श्रवण तुम किसके लिए कर रहे हो?

हमारे यहाँ एक सत्संग होता है। उसमें जो वक्ता हैं, उनके पास कुछ ऐसे साधन हैं कि वे दस बीस आदमी को नौकरी दे सकते हैं। तो, जिनको नौकरी चाहिए-ऐसे लोग आकर सत्संग में सबसे आगे बैठते हैं और कागज-कलम लेकर बैठते हैं और सत्संग की एक-एक बात लिखते हैं। फिर एकान्त में मिलते हैं और प्रश्न करते हैं और खूब घनिष्ठता पैदा कर लेते हैं। और, उसके बाद कहते हैं कि बस, अब तो हम आपकी ही सेवा में रहेंगे। 'अच्छा भाई, हमारी सेवा में रहो।' बोले कि बाल-बच्चों का ख्याल जरा ज्यादा आता है!' अच्छा भाई, उनको पचास-सौ रुपया भेज दिया करो!' माने एक तरह से नौकरी मिल गयी। अब देखो, इस श्रवण में नौकरी का ख्याल है। अतः वह 'तदर्थे' नहीं हुआ। वह भगवान् के लिए नहीं हुआ। इसमें स्वार्थ जुड़ गया। इसमें भी सावधान रहने की जरूरत है।

●●●

: : २८ : :

सृष्टि की उत्पत्ति : विभिन्न दर्शन

पूर्वमीमांसा दर्शन में ऐसा मानते हैं कि व्यष्टि और समष्टि में वस्तु की उत्पत्ति और प्रलय माने वस्तुओं में जितने परिवर्तन होते हैं, सब कर्म के कारण होते हैं। न्याय-दर्शन कहता है कि वस्तुओं का निर्माण तो ईश्वर करता है। परन्तु, फलों का, भोगों का जो निर्माण है, यह सब जीव अपने कर्मानुसार करता है। वैशेषिक दर्शन में ऐसा मानते हैं कि सब चीजों में अपनी-अपनी विशेषता होती है। वह जीव कर्म से प्रकट होती है और ईश्वर तटस्थ होता है। परन्तु, योग और सांख्य कहते हैं कि सृष्टि तो प्रकृति से बनती-बिगड़ती रहती है। इसमें ईश्वर का कोई खास हाथ नहीं है। यह जीव जो है, अपने को कर्ता मानकर फँस जाता है। असल में जीव का स्वरूप द्रष्टा है, साक्षी है और दृश्य के साथ तादात्म्य होने से ही यह सारा दुःख है। समाधि लगाओ- ऐसा योग कहता है। विवेक करो- ऐसा सांख्य कहता है। आत्मा तो द्रष्टा है।

वेदान्त-दर्शन कहता है कि आत्मा केवल दृश्य का दृष्टा है- इतना ही जानना काफी नहीं है। यह अद्वितीय है- यह जानना चाहिये। वे कहते हैं कि तुम्हारे मन में काल की वासना बैठी हुई है, इसलिए जगत् को तुम अनादि और नित्य मानते हो और परमात्मा को भी अनादि और अनन्त मानते हो। वह तो तुम्हारे दिल में काल की वासना है; नहीं तो कुछ भी अनादि-नित्य, अनादि-अनन्त कहने-सुनने योग्य नहीं होता। यह जो ऐसा मानते हो कि परमात्मा बड़ा भारी व्यापक है। तो कोई लोग बहुत फूलते हैं कि हम साकार को नहीं मानते, निराकार मानते हैं। हर जगह परमेश्वर है। तो वेदान्त यह कहता है कि तुम्हारे मन में जो जगह, जगह, जगह बैठ गई है, इस जगह के संस्कार से ही तुम परमात्मा में व्यापकता मानते हो। जरा

अंत:करण को छोड़ो, तब पता चले! परमात्मा सबका बीज है, कारण है। नारायण कहो! यह कार्य-कारण भी तुम्हारे मन में कल्पित ही है।

तो परमात्मा में देश के संस्कार से दीर्घ-विस्तार काल के संस्कार से अनादिता और अनन्तता और कार्य प्रपंच के संस्कार से कारण रूपता मनुष्य के अंत:करण में बैठी है और वहीं मालूम पड़ती है। और, इसका जो साक्षी है, वह कालातीत है, देशातीत है, द्रव्यातीत है। उसकी अद्वितीयता में देश, काल, वस्तु की सत्ता ही नहीं है।

तो योग, सांख्य और वेदान्त- ये तीनों द्रष्टा, साक्षी आत्मा की प्रधानता से है। योग अभ्यास, सांख्य विवेक और वेदान्त ब्रह्मात्मैक्यबोध- इनको साधन मानता है और साक्षी के स्वरूप में अवस्थिति- यह सांख्य योग का फल है और अद्वैतात्मबोध- यह वेदान्त का फल है। कर्ता की प्रधानता से न्याय, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा है। और, पूजा, उपासना में कर्ता की प्रधानता और ईश्वर की ओर उन्मुखता और शरणागति में ईश्वर की प्रधानता और कर्ता की गौणता है।

तो इस तरह से धर्म योगपर्यवसायी है। माने देखो, शारीरिक कर्म से तो धर्म होता है और मानसिक-कर्म से योग होता है और बैद्धिक-कर्म से विवेक होता है और अंत में कर्म रहित परमात्मा का साक्षात्कार वेदान्त से होता है। जहाँ आना नहीं, जाना नहीं, बदलना नहीं, जन्मना और मरना नहीं।

●●●

:: २९ ::

ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण

एकने पूछा कि ईश्वर के अस्तित्व में क्या प्रमाण है?

उससे पूछो कि ईश्वर के बारे में तुम्हारी क्या धारणा है? वह किस प्रमाण का विषय होना चाहिये? पहले यह निर्णय कर दो- आँख से जितना दिखता है, उतना ही ईश्वर होना चाहिये क्या? या नाक से जितना सूँघा जाता है उतना ही ईश्वर होना चाहिये क्या? प्रमाण माने क्या? प्रमाण और ईश्वर के बारे में तुम्हारी क्या धारणा है? कभी सोचा-विचारा भी है कि नहीं?

देखो, गंध के होने में नासिका प्रमाण है। लेकिन गंध तो दुनिया की एक अदना-सी चीज, एक नन्ही-सी-चीज है। गंध को प्रमाणित करने वाली नासिका ईश्वर को कैसे प्रमाणित करेगी? अच्छा, रूप को प्रमाणित करने वाली आँख ईश्वर को कैसे प्रमाणित करेगी? शब्द को प्रमाणित करने वाला कान ईश्वर को कैसे प्रमाणित करेगा? स्पर्श को प्रमाणित करने वाली त्वचा भला ईश्वर को कैसे प्रमाणित करेगी? ये सब छोटे-छोटे हैं और छोटी-छोटी चीज को जानते हैं। ये तो ईश्वर को जानते ही नहीं हैं।

अच्छा, मन तो प्रमाण है ही नहीं। उसमें तो इतनी भ्रान्तियाँ होती हैं कि वह शत्रु को मित्र समझे, मित्र को शत्रु समझे। सुन्दर को असुन्दर समझे और असुन्दर को सुन्दर समझे। दूसरे के बेटे से अपने बेटे को अच्छा समझे। वह तो प्रमाण ही नहीं है। अपना मन तो बिलकुल भ्रान्त, मोहग्रस्त, कामग्रस्त, क्रोधग्रस्त, लोभग्रस्त! और, संस्कार शून्य होने पर वृत्ति ही नहीं है। तो मन प्रमाण कैसे हो सकता है?

बोले कि बुद्धि प्रमाण है। बुद्धि तो उन्हीं वस्तुओं के बारे में प्रमाण होती है जो इन्द्रियों से मालूम पड़ती हैं। जहाँ इन्द्रियों की गति नहीं है, वहाँ अन्वय-व्यतिरेक नहीं होता कि यह होने पर सुख होगा, यह न होने पर दु:ख होगा। एक बार हाथ आग में जल लेता है तो आग को देखते ही बुद्धि बताती है कि इसको छूओ मत। जल जाओगे। और, एक रसगुल्ला खाते ही स्वाद आ जाता है तो बुद्धि कहती है कि हाँ, रसगुल्ला खाना चाहिये। तो नारायण, यह बुद्धि इन्द्रियों से अपना अनुभव बनाती है और फिर निर्णय देती है। आपकी बुद्धि ने कभी ईश्वर को देखा हो तो ईश्वर के बारे में निर्णय दे सकती है।

अब वहीं आ जाओ कि ईश्वर के बारे में क्या प्रमाण है? यदि अपने बेटे का नाम आपने ईश्वर रखा है तो उसमें आँख भी प्रमाण हो सकती है और गुलाब की गंध का नाम आपने ईश्वर रखा है तो नाक भी प्रमाण हो सकती है। आपने किसी ॐकार, सोऽहंकार को अर्थात् किसी ध्वनि को आपने ईश्वर माना है तो आपका बंद कान या खुला कान भी इसमें प्रमाण हो सकता है और किसी कठोर या मृदु स्पर्श का नाम ईश्वर है तो त्वचा भी प्रमाण हो सकती है। प्रश्न तो यह है कि देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न, स्वयं प्रकाश, सर्वाधिष्ठान, अद्वितीय तत्त्व को यदि आप ईश्वर कहते हैं तो उसके बारे में प्रमाण का अर्थ इन्द्रिय तो नहीं हुआ? प्रमाण का अर्थ मन तो नहीं हुआ? तब हम यह पूछते हैं कि अच्छा आप किस प्रमाण से होते हैं? आपने अपने को आँख से देखा है कि नाक से सूँघा है कि त्वचा से छूआ है कि कान से सुना है? खुले आम हम यह सकते हैं कि आपका अस्तित्व जिस प्रमाण से सिद्ध है, उसी प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है। क्योंकि, अभी हमने आत्मा के जिस स्वरूप का निरूपण किया वह असल में आत्मा का ही नहीं, परमात्मा का भी स्वरूप है। आत्मा और परमात्मा एक जगह पर हैं। तो जब आप अनुभव की वृत्ति से, अनुभव की गति से, अनुभव के मार्ग से अपने आपको देखेंगे, तब देखेंगे कि जैसे बिना किसी प्रमाण और प्रमेय के व्यवहार के-किताब में कोई बात लिखी होना प्रमाण नहीं होता और इन्द्रियों से कोई वस्तु का दिखना प्रमेय नहीं होता-जहाँ से

किताबें निकलती हैं, जहाँ से आँख, कान, नाक आदि में रोशनी आती है, जहाँ से मन और बुद्धि में रोशनी आती है, वह जो सबके अंतरंग में बैठा हुआ है अखण्ड, अद्वितीय, देश-काल-वस्तु से अपरिच्छिन्न आत्मचैतन्य, वही ब्रह्माभिन्न है। वही अद्वितीय ब्रह्म है और उसमें न देश है, न काल है, न वस्तु है, न प्रपंच है और उसी में भान-मात्र सारा-का-सारा प्रमाण और प्रमेय का व्यवहार हो रहा है। नारायण, अपने आप में ही हो रहा है। और, ज्ञान होने के बाद भी शरीर रहता है, व्यक्ति रहता है, जीवन्मुक्त रहता है। उसका व्यवहार होता है। जिसने तत्त्वज्ञान के पूर्व अपने जीवन को शुद्ध बना लिया, धीरोदात्त बना लिया, प्रकृति से स्वच्छ बना लिया, वह तत्त्वज्ञान के अनन्तर भी आनन्द में मग्न रहता है। प्रकाश बहुल उसका जीवन होता है। आनन्द बहुल उसका जीवन होता है। सद्-बहुल उसका जीवन होता है। और, जो इस तत्त्वज्ञान के पूर्व अपने को अधिकारी नहीं बना लेते, तो ज्ञान होने के बाद भी तमोबहुल, रजोबहुल, अन्धकार बहुल, दु:ख बहुल उनका जीवन व्यतीत होता है। क्योंकि जो स्वयं प्रकाश अधिष्ठान वस्तु है, वह स्वयं अपना परिवर्तन करता नहीं और दूसरे का भी परिवर्तन नहीं करता। वह तो ज्यों-का-त्यों रहता है।

तो नारायण, नित्य-प्राप्त की प्राप्ति, नित्य ज्ञात का ज्ञान, नित्य अनुभव स्वरूप का अनुभव जब तक प्राप्त होता नहीं तब तक जन्म-मरण से छुट्टी मिलेगी नहीं। तब तक ज्ञान-अज्ञान से परे जाओगे नहीं। तब तक सुख-दु:ख का द्वन्द्व मिटेगा नहीं। और, अद्वितीय ब्रह्मात्म बोध का जो जीवन्मुक्ति फल है, उसका अनुभव होगा नहीं। इसलिये, प्रत्येक सत्य के जिज्ञासु का कर्तव्य है कि इस अखण्ड, अद्वितीय तत्त्व का ज्ञान जब तक प्राप्त न हो, तब तक इसके मार्ग में चलता रहे। यही परमगति है, यही परम सत्य है, यही परमार्थ है।

●●●

: : ३० : :

भगवान् की भगवत्ता
अर्थात्
विषमता में भी समता

देखो नारायण, भगवान् राग-द्वेष के आभास को सह सकता है। क्योंकि, अधिष्ठान भी है। परन्तु, भक्त का हृदय राग-द्वेष को सह नहीं सकता है। इसलिए भगवान् विषमता में भी अपनी समता बनाये रखते हैं। वे रावण को ही नहीं मारते हैं, वे सीता को घर से निकाल भी देते हैं। वे लक्ष्मण को भी मरने की इजाजत दे देते हैं। आपने रामचरित्र में सुना होगा- यह मर्यादा पर बैठाया थी कि इस समय भगवान् एकान्त में हैं, कोई मिल नहीं सकता। लक्ष्मण को दरवाजे पर बैठाया। महात्मा आये और बोले कि लक्ष्मण, अभी राम को मिलाओ। वे बोले कि अभी नहीं मिला सकते। महात्मा कुपित होकर बोले कि अभी नहीं मिलाओगे। तो हम ऐसा शाप देंगे कि अयोध्या भस्म हो जायेगी। और, भगवान् ने कह रखा था कि इस बीच अगर किसी को तुमने हमसे मिलाया तो अपने हाथ से तुमको मृत्युदण्ड देंगे। तो लक्ष्मण जी ने विचार किया कि हमको मृत्युदण्ड मिले- यह ठीक है कि अयोध्या भस्म हो जाये- यह ठीक है? लक्ष्मण जी ने यह निश्चय किया कि मैं भले मर जाऊँ, पर अयोध्या भस्म न हो। महात्मा को राम से मिलाने ले गए। रामचन्द्र ने कहा, 'यह क्या किया?' महात्मा को देखकर प्रणाम किया और पूछा कि महाराज, क्या आज्ञा है? महात्माजी बोले कि बस तुमको देखने की इच्छा थी, सो देख लिया। अब चलता हूँ। महात्मा जी तो चले गए। लेकिन भगवान् की जो मर्यादा थी, वह नहीं छोड़ी।

सीता के सम्बन्ध में भी यह प्रश्न आता है कि ईश्वर केवल सीता का है कि सम्पूर्ण प्रजा का है? ईश्वर तो सारी प्रजा का है, केवल सीता का नहीं है।

मैत्रीं दयां च सौख्यं च अथवा जानकीऽपि वा।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

भवभूति ने लिखा है कि रामचन्द्र ने कहा कि हमें अपने मित्र छोड़ने पड़ें, दया छोड़नी पड़े, अपने सुख छोड़ने पड़ें, जानकी छोड़नी पड़े; लेकिन मैं अपने आराध्य लोक को नहीं छोड़ सकता। लोकाराध्य राम हैं और रामाराध्य लोक हैं। लोग राम की आराधना करते हैं और राम लोगों की आराधना करते हैं। राम ने कहा कि हमारा इष्टदेव तो यह प्रजा है। अगर प्रजा के लिये हमें जंगल में जाना पड़े तो जायेंगे; अपने इष्ट-मित्र माँ-बाप छोड़ने पड़ें तो छोड़ेंगे; धरती पर सोना पड़े तो सोवेंगे; कठोरता करनी पड़े तो करेंगे; पत्नी और भाई को छोड़ना पड़े तो छोड़ेंगे। लेकिन हम प्रजा को नहीं छोड़ सकते। यह तो जिनका हृदय मोहाक्रांत होता है, वे कहते हैं कि भाई कैसे छोड़ दिया? पत्नी को कैसे छोड़ दिया, अरे भाई, छोड़ न दें तो योगी लोग उसको अपनी समाधि में कैसे रखेंगे? जो सबको छोड़कर बैठेगा, जो सबको छोड़कर रहेगा, वही योगी की समाधि में रहेगा। और, जो कुछ लिये-दिये रहेगा, वह योगी की समाधि में कैसे रहेगा?

●●●

: : ३१ : :

सबका समन्वय सीखो

एक ने कहा कि यह आदमी तो चार्वाक है। चार्वाक माने न लोक माने, न परलोक माने, न माँ माने, न बाप माने। यह तो बड़ा नास्तिक है। क्या मानता है? बस, खाओ, पियो, मौज उड़ाओ–इतना ही मानता है। बोले कि तुम समझते नहीं हो। वह यह कहता है कि जो तुम बेटी में, बेटे में, धन में, स्त्री में, संसार के रिश्तेदारों में फँसकर अपने को भूल रहे हो न, तो जरा दूसरों की ओर से नजर हटा कर अपनी ओर ले जाओ। तुम्हारी दृष्टि को बाहर से अपने ऊपर लाने के लिए ही वह सबको मना करता है। और तुम्हारी आत्म–दृष्टि को जाग्रत करना चाहता है। चार्वाक की भी संगति है।

एक ने कहा भाई, ये तो भगवान् का खण्डन करते हैं। बोले कि नहीं–नहीं, वे भगवान् का खण्डन नहीं करते हैं। वह तो जो भगवान् के बारे में तुम्हारी बुद्धि सोयी हुई है, उसको जगाना चाहते हैं, अभी तुम्हारे मन में तर्क नहीं आता, युक्ति नहीं आती है और जब उनसे बातचीत करने लगोगे, तो तुम्हारे मन में युक्ति का उदय हो जायेगा। हमको इस बात से बड़ा लाभ हुआ है। हम आपको साफ–साफ बताते हैं। हमारे गाँव के पास एक ठाकुर साहब थे। वे किसी पत्र के संपादक थे। वे कहते थे कि पुनर्जन्म नहीं होता है। मैं सनातन धर्मी वंश का और वेद, शास्त्र, संस्कार, पुनर्जन्म हम मानते थे। तो, वे पुनर्जन्म का खण्डन करने के लिए जो–जो युक्ति देते, उसके विपरीत युक्ति हम कहीं–न–कहीं शास्त्र में से या किसी पण्डित से पूछकर, किसी महात्मा से पूछकर उनका खण्डन करने के लिए प्राप्त करते। अब हमारी जानकारी जब बहुत बढ़ गयी और हम उनसे खूब ठीक–ठीक बातचीत करने लग गये। साधु होने के बाद, एक दिन वे हमसे मिले। मैंने पूछा कि आप पुनर्जन्म मानते हो कि नहीं? ये बोले कि मैं तो खूब मानता हूँ। मैंने कहा कि आपने हमको दस वर्ष परेशान क्यों किया? बोले कि तुम

बालक थे। मैंने सोचा कि तुम्हारी बुद्धि इस ढंग से दर्शन शास्त्र में प्रवेश करने लग जाय, तुम्हारी बुद्धि बढ़ जाय– इसलिए मैं तुम्हारे सामने पुनर्जन्म का खण्डन करता रहा। अब देखो न, वे खण्डन तो करें पुनर्जन्म का और हमारे ऊपर हुई उनकी कृपा।

इसलिए किसी की निन्दा मत करो।

●●●